

MAPA- 503

भारत में लोक प्रशासन (भाग- 1)

PUBLIC ADMINISTRATION IN INDIA (Part- 1)



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल

फोन नं०- 05946- 261122, 261123

टॉल फ्री नं०- 18001804025

ई० मेल- info@uou.ac.in

वैबसाईट- <http://uou.ac.in>

अध्ययन मंडल

प्रो० गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रो० अजय सिंह रावत उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
प्रो० अशोक कुमार शर्मा, सेवानिवृत्त लोक प्रशासन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	प्रो० उमा मेदुरी लोक प्रशासन विभाग, इंदिरागांधी राष्ट्रीय मुक्त वि०वि० दिल्ली
प्रो० बी० अरूण कुमार लोक प्रशासन विभाग, वर्धमान महावीर मुक्त वि०वि० कोटा, राजस्थान	प्रो० एम० एम० सेमवाल, राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढ़वाल, उत्तराखण्ड
डॉ० ए०के० रुस्तगी, रीडर राजनीति विज्ञान विभाग जे०एस०पी०जी० कॉलेज, अमरोहा, उत्तर प्रदेश	प्रो० मधुमेन्द्र कुमार (विशेष आमंत्रित सदस्य) राजनीति विज्ञान विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड
डॉ० घनश्याम जोशी उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	डॉ० सूर्य भान सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
पाठ्यक्रम संयोजन और सम्पादन	
डॉ० घनश्याम जोशी लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी उत्तराखण्ड	

इकाई लेखक	इकाई संख्या
डॉ० सूर्यभान सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8
डॉ० सुशील सिंह चौहान	9, 10, 11, 12
डॉ० कमल कुमार	13, 14
डॉ० जाकिर हुसैन, सेवानिवृत्त प्रोफेसर, बरेली	15

प्रकाशन वर्ष- 2020

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण- 2020

प्रकाशक निदेशालय- अध्ययन एवं प्रकाशन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

अनुक्रम

भारत में लोक प्रशासन (भाग- 1)

खण्ड- 1 भारतीय प्रशासन	
1. भारतीय प्रशासन का विकास	1 – 22
2. भारतीय प्रशासन की विशेषताएँ	23 – 33
3. भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व संवैधानिक पर्यावरण	34 – 47
4. भारतीय संविधान की विशेषताएँ	48 – 59
खण्ड- 2 संघीय शासन-1	
5. राष्ट्रपति	60 – 79
6. प्रधानमंत्री, मन्त्रिपरिषद	80 – 89
7. संसद- लोक सभा और राज्य सभा	90 – 105
8. केन्द्रीय सचिवालय, मन्त्रिमंडलीय सचिवालय , प्रधानमंत्री सचिवालय	106 – 124
खण्ड- 3 संघीय शासन- 2	
9. राजनीति और प्रशासन में सम्बन्ध	125 – 135
10. केन्द्र -राज्य सम्बन्ध	136 – 149
खण्ड- 4 राज्य शासन	
11. राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मन्त्री-परिषद	150 – 171
12. राज्य सचिवालय, मुख्य सचिव	172 – 190
खण्ड- 5 लोक सेवाएं और अखिल भारतीय सेवाएं- 1	
13. लोक सेवाएं- अर्थ, कार्य, आधुनिक प्रवृत्तियां और विशेषताएँ	191 – 207
14. अखिल भारतीय सेवाएं, केन्द्रीय सेवाएं, भर्ती एवं प्रशिक्षण	208 – 228
15. स्वामी कर्मचारी संबंध	229 – 258

इकाई-1 भारतीय प्रशासन का विकास

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 भारतीय प्रशासन विकास

1.2.1 मौर्य प्रशासन

1.2.1.1 केन्द्रीय प्रशासन

1.2.1.2 मंत्री-परिषद

1.2.1.3 नौकरशाही

1.2.1.4 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

1.2.1.5 प्रान्तीय प्रशासन

1.2.1.6 स्थानीय प्रशासन

1.2.1.7 नगर प्रशासन

1.2.1.8 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रासंगिकता

1.2.2 मुगल प्रशासन

1.2.2.1 केन्द्रीय प्रशासन

1.2.2.2 प्रान्तीय प्रशासन

1.2.2.3 स्थानीय प्रशासन

1.2.2.4 मनसबदारी प्रथा

1.2.2.5 जागीरदारी प्रथा

1.2.3 ब्रिटिश प्रशासन

1.2.3.1 केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास

1.2.3.2 केन्द्रीय सचिवालय का विकास

1.2.3.3 वित्तीय प्रशासन का विकास

1.2.3.4 पुलिस प्रशासन का विकास

1.2.3.5 न्याय व्यवस्था का विकास

1.3 सारांश

1.4 शब्दावली

1.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

यद्यपि लोक प्रशासन एक अध्ययन के विषय के रूप में नवीन विषय है, जिसका जन्म 1887 में वुडरो विल्सन की राजनीति-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप हुआ, तथापि लोक प्रशासन एक कार्य या प्रक्रिया के रूप में सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही दिखाई देता है। जब से सभ्यता का अस्तित्व है, तब से मानव के विकास हेतु निरंतर संगठित प्रयास होते रहे और सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही प्रशासन का अस्तित्व भी देखने को मिलता है।

भारतीय परिवेश में भी प्रशासन का विकास प्राचीन काल से ही देखा जा सकता है। हड़प्पा सभ्यता से लेकर आज तक भारतीय प्रशासन अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा है। भारतीय प्रशासन अपने वर्तमान रूप में विरासत और निरंतरता का परिणाम है, जिसके विकास की कड़ियां किसी न किसी रूप में अतीत से जुड़ी हुई हैं। हालांकि वर्तमान भारतीय शासन प्रणाली मूल रूप से ब्रिटिश काल की देन मानी जाती है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- मौर्यकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- मुगलकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।

- ब्रिटिश शासन में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।

1.2 भारतीय प्रशासन विकास

वी0 सुब्रह्मण्यम के अनुसार वर्तमान प्रशासनिक प्रक्रिया का सिलसिला सदियों तक विचारों का रहा, न कि संस्थाओं का। संस्थागत सिलसिला अंग्रेजों के शासनकाल की देन है। भारतीय प्रशासन के विकास में मौर्यकाल, मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनकी विस्तार से चर्चा करते हैं-

1.2.1 मौर्य प्रशासन

मौर्य प्रशासन, भारतीय इतिहास में दिलचस्पी का विषय है। मौर्य प्रशासन का अध्ययन पूर्ववर्ती प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है, अर्थात् इसकी स्थिति वैदिक कबायली संरचना और सामांतवादी युग के बीच की है। मौर्यकाल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की तथा एक विशाल साम्राज्य पर मौर्य शासकों ने शासन किया। इस विशाल साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले अनेक ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इंडिका, अशोक के शिलालेख व अनेक यूनानी रचनाओं से मौर्य शासन प्रणाली के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा अपने गुरु और प्रधानमंत्री चाणक्य की सहायता से जिस शासन प्रणाली का प्रारम्भ किया गया, उसके अनेक तत्व वर्तमान प्रशासन में भी दृष्टिगोचर होते हैं। मौर्य प्रशासन के दौरान निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। पहला- यह एक अति केन्द्रीकृत प्रशासन था, जिसकी पहुँच नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रों में थी। इसकी चिंता बाजार-व्यवस्था के नियंत्रण से लेकर नागरिक जीवन में नैतिक मूल्यों की सुरक्षा तक थी। दूसरा- यह एक नौकरशाही पर आधारित प्रशासन था, जिसमें सबल एवं निर्बल दोनों पक्ष थे। तीसरा- वस्तुतः मौर्य प्रशासन कोई नवीन प्रशासन नहीं था वरन् नंद शासकों की पद्धति का ही एक विकसित रूप था अर्थात् केन्द्रीकरण की प्रक्रिया नंद शासकों के समय ही शुरू हो गयी थी।

1.2.1.1 केन्द्रीय प्रशासन

मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। अतः शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद होगया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गये। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थी। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर

करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का सम्पादन ही राजा का प्रमुख कर्तव्य था।

राजा अब केवल दूरस्थ संरक्षक नहीं वरन् जनता का एक निकट संरक्षक बन गया। राजशक्ति निरंकुश पितृसत्तावाद पर आधारित थी। अशोक ने स्पष्ट रूप से अपने धौली शिलालेख में घोषणा की “कि सारी प्रजा मेरी संतान है।” अर्थात् मौर्य शासक जनता के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। राजा अब न केवल धर्मशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। बल्कि अर्थशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। अर्थशास्त्र में राजा की विवेकशीलता पर बल दिया गया, अर्थात् राजा न केवल पुराने कानूनों का पालन करवा सकता था वरन् प्रशासनिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर नए कानूनों का निर्माण भी कर सकता था और फिर परंपरागत कानून तथा राजा के कानून में किसी प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न होने की दशा में राजा का कानून ही ज्यादा मान्य होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रशासन के प्रत्येक पहलू में राजा का आदेश या विचार ही सर्वोपरि है।

अर्थशास्त्र में राजा के कर्तव्यों का भी निर्धारण किया गया। अर्थशास्त्र ने इस बात पर बल दिया, कि राजा को किसी भी समय कर्मचारियों एवं जनता की पहुँच से परे नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर गड़बड़ी एवं असंतोष फैलेगा और राजा शत्रुओं का शिकार हो जाएगा। मेगस्थनीज का भी कहना है कि मालिश करवाते समय राजा से विचार विमर्श के लिए मिला जा सकता है। अशोक के शिलालेख भी इस बात की पुष्टि करते हैं। अर्थशास्त्र में राजा के कुछ आवश्यक गुण भी निर्धारित किए गये, जिसके अनुसार जनसाधारण, राजा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त राजा को दैवीय बुद्धि व शक्ति वाला, वृद्धजनों की बात सुनने वाला, धार्मिक व सत्यवादी होना आवश्यक है।

1.2.1.2 मंत्री-परिषद

सिद्धान्त के रूप में मौर्य काल में राज्य की संपूर्ण शक्ति राजा के हाथों में ही केन्द्रित थी, किन्तु व्यवहार में अनेक प्रतिबन्धों के कारण राजा की शक्ति की निरंकुशता सीमित थी विशाल मंत्री-परिषद व प्राचीन परंपराओं के पालन ने मौर्य शासकों की निरंकुशता पर सदैव अंकुश लगाए रखा। राजा को अपने कर्तव्यों के निर्वहन में सहायता हेतु एक मंत्री-परिषद होती थी। अर्थशास्त्र एवं अशोक के अभिलेखों में मंत्री-परिषद का जिक्र है। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्यरूपी रथ केवल एक पहिए(राजा) के द्वारा नहीं चल सकता। अतएव दूसरे पहिए के रूप में उसे मंत्री-परिषद की आवश्यकता होती है।

मंत्री-परिषद एक परामर्शदात्री निकाय थी, जिसकी शक्ति राजा एवं मंत्रियों की परस्पर स्थिति पर निर्भर करती थी। सामान्यतः राजा के समानान्तर मंत्री-परिषद की शक्ति कमजोर थी और राजा मंत्री-परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था। राजा के समानान्तर मंत्रियों की स्थिति का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि राजा अपने मंत्री को स्वयं नियुक्त करता था। मेगस्थनीज के अनुसार राजा के सलाहकार एक विशेष जाति से नियुक्त होते थे। राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भली भांति जाँच के बाद किया जाता था।

अर्थशास्त्र में मंत्रियों के कुछ गुण निर्धारित किए गये अर्थात् उनमें उच्चकुल में जन्म, वीर, बुद्धिमान, ईमानदारी जैसे गुण होने चाहिए। मंत्री-परिषद से 3-4 मंत्रियों की एक छोटी उपसमिति भी बनती थी जो राजा को कुछ विशिष्ट बातों में परामर्श देती थी। कौटिल्य ने नीति निर्धारण की गोपनीयता पर बल दिया है। मंत्री-परिषद का अपना सचिव होता था, जिस पर उसके कार्यालय की देखभाल का भार था। कौटिल्य ने उसे मंत्री-परिषद अध्यक्ष कहा है। डॉ० आर० सी० मजूमदार ने मौर्यकालीन मंत्री-परिषद की तुलना इंग्लैण्ड की प्रिवी कौंसिल से की है।

1.2.1.3 नौकरशाही

मंत्री-परिषद व राजा के द्वारा मुख्यतः नीति निर्धारण का कार्य किया जाता था। तत्पश्चात् उन नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रमुख कार्य नौकरशाही के द्वारा किया जाता था। मौर्यकालीन नौकरशाही अत्यधिक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित थी। प्रशासन के संचालन में कौटिल्य ने 18 तीर्थों (अधिकारियों का नाम) एवं 27 अध्यक्षों की भूमिका पर बल दिया है। मौर्यकाल में प्रशासन की सुविधा के लिए 18 विभागों की स्थापना की गयी थी, जिन्हें तीर्थ कहते थे। प्रत्येक विभाग के संचालन व निरीक्षण के लिए अध्यक्ष होता था। एक महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिकारी सन्निधाता अर्थात् कोषाध्यक्ष होता था। वह केन्द्रीय खजाने का प्रभारी होता था। वह एक दूसरे महत्वपूर्ण अधिकारी समाहर्ता से मिलकर कार्य करता था। समाहर्ता भू-राजस्व की वसूली से जुड़ा हुआ था। युवराज, राजा का उत्तराधिकारी होता था। मंत्री सर्वोच्च सलाहकार था। पुरोहित शासकीय तथा धार्मिक मामलों में राजा का परामर्शदाता था।

अर्थशास्त्र में राजस्व के महत्वपूर्ण स्रोतों की चर्चा की गयी है, जैसे भूमि, खनन, जंगल, सड़क आदि। महत्वपूर्ण राजकीय खर्च- वेतन, सार्वजनिक कार्य निर्माण, सड़क एवं कुएँ, विश्रामगृह, सिचाई से संबंधित कार्यों में होता था। अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय कोष एवं राजा के व्यक्तिगत कोष में कोई अन्तर नहीं किया गया था।

1.2.1.4 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

कौटिल्य के अनुसार राज्य एक आवश्यक और अनिवार्य संस्था है। राज्य की स्थापना के बिना समाज में अराजकता तथा मत्स्य न्याय की स्थापना हो जाएगी तथा शक्तिशाली, दुर्बल को अपने हित का साधन बना लेगा। कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में विश्वास करता है। राजा व प्रजा के बीच समझौते के परिणामस्वरूप राज्य अस्तित्व में आया। चूंकि राज्य, व्यक्ति के लिए हितकारी संस्था है। अतः व्यक्ति की निष्ठा एवं आस्था राज्य में होती है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सात अंग हैं, जिन पर राज्य की व्यवस्था, स्थिरता और अस्तित्व निर्भर करता है। ये सात अंग हैं- राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोषालय, सशस्त्र सेना तथा मित्र। राज्य के इन भागों में सावयव एकता होती है।

राजा, राज्य का प्राण है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा धर्म का रक्षक होता है। उसमें निर्भयता, आत्मनियंत्रण, निर्णय लेने की क्षमता तथा विचार करने की शक्ति होनी चाहिए। यदि राजा अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार नहीं करता, तो वह आदर योग्य नहीं है। अयोग्य राजा को पद से हटा देना चाहिए।

राजा के बाद पदसोपान में दूसरा स्थान अमात्य का आता है। वह आजकल के मंत्रिमंडलीय सचिव के समान शासकीय अधिकारियों में सबसे उच्च अधिकारी होता था। अमात्य प्रशासन सम्बन्धी बातों को देखता था। राजा कुशल, बुद्धिमान तथा निर्णय लेने की क्षमता वाले व्यक्ति को अमात्य पद के लिए चयन करता था।

जनपद, राज्य का तीसरा अंग था। इसमें भूमि-भाग के साथ साथ क्षेत्र में रहने वाले लोगों भी सम्मिलित होते थे। कौटिल्य के अनुसार श्रेष्ठ जनपद वह है जो प्राकृतिक सीमाओं जैसे नदी, पहाड़, जंगल में बसा हो। जनपद की भूमि उपजाऊ होनी चाहिए तथा रहने वाले लोग मेहनती, बुद्धिमान, वफादार होने चाहिए।

दुर्ग भी राज्य का एक अनिवार्य अंग था। राज्य की स्थिरता और युद्धों में सुरक्षा के लिए दुर्ग की भूमिका अहम होती थी। दुर्ग में पर्याप्त खाद्य सामग्री, अस्त्र-शस्त्र, पानी, दवाईयां आदि का रहना आवश्यक था, जो समय पर काम आ सके।

कोष व कोषालय भी राज्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य था। मौर्यकाल में वित्त की व्यवस्था बेहतर थी। विभिन्न प्रकार के करों से प्राप्त राशि कोषालय में एकत्रित होती थी। विभिन्न खर्चों के लिए बजट में व्यवस्था होती थी। आपात स्थितियों से निपटने के लिए आपात निधि की आवश्यकता थी।

सेना की राज्य में महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। कौटिल्य ने मौर्य सेना के संगठन तथा सैन्यशास्त्र का व्यापक चित्रण किया है। सैनिकों से राज भक्ति, साहस, बहादुरी की अपेक्षा की जाती थी। सीमा विस्तार पर विशेष ध्यान होने की वजह से सेना राज्य का आवश्यक अंग थी।

मित्र से तात्पर्य मित्र राज्यों से था। राज्य की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि पड़ोसी राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं या नहीं।

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के अस्तित्व एवं स्थिरता हेतु राज्य के सात अंगों पर आधारित होने की बात कही इन अंगों के बीच उचित संतुलन अनिवार्य था।

1.2.1.5 प्रान्तीय प्रशासन

मौर्यकाल में संपूर्ण साम्राज्य का विभाजन प्रान्तों में किया गया था। पाँच प्रान्तीय राजधानियां प्रमुख थी तथा उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला, अवंति राज्य की राजधानी उज्जैन, कलिंग प्रांत की राजधानी तोसली, दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरि और पूर्वी प्रान्त की राजधानी पाटलिपुत्र। ये पाँच महत्वपूर्ण एवं बड़े प्रान्त थे तथा इनके अधीन छोटे छोटे प्रान्त भी थे। बड़े प्रान्तों का प्रशासक राजकुल का होता था। अशोक के फरमानों में उन्हें कुमार या आर्यपुत्र कहा गया है। अर्थशास्त्र में इस बात की चेतावनी दी गयी कि कुमार या आर्य पुत्र खतरे का कारण हो सकता है। इसलिए उसे राज्य पर सम्पूर्ण नियंत्रण नहीं होना चाहिए। प्रान्तीय प्रशासन में केन्द्रीकरण की प्रकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि प्रान्तीय मंत्रिपरिषदों को यह स्वतन्त्रता थी कि वह प्रान्तीय प्रशासक को सूचित किए बिना राजा को महत्वपूर्ण सूचना प्रेषित कर सकती है। इस बात की पुष्टि दिव्यावदान से भी होती है।

किन्तु क्षेत्रीय स्तर पर मौर्य प्रशासन में कुछ स्वायत्तता प्रदान की गयी थी, अर्थात् संबंधित क्षेत्र के व्यक्ति को ही उस क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त किया जाता था। उदाहरण के लिए रुद्रदमन के जूनागढ़ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि काठियावाड़ का शासक यौनराज तुशाष्क था।

1.2.1.6 स्थानीय प्रशासन

प्रान्तों का विभाजन विभिन्न जिलों में किया गया था। जिले को विषय या आहार कहा जाता था। जिला प्रशासन से जुड़े तीन पदाधिकारी थे- प्रादेशिक, रज्जुक और युक्त। प्रादेशिक नामक अधिकारी कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखने और भू-राजस्व की वसूली से जुड़े हुए थे, जबकि रज्जुक नामक अधिकारी विशेष रूप से न्यायिक कार्यों से

जुड़े हुए थे। रज्जुक की नियुक्ति ग्रामीण जन कल्याण के उद्देश्य से की जाती थी। उसके अतिरिक्त युक्त का कर्तव्य सचिव एवं लेखा संबंधी काम देखना था। अशोक के अभिलेखों में इन अधिकारियों की चर्चा की गयी है।

जिला एवं ग्रामीण प्रशासन के बीच एक और प्रशासनिक इकाई थी। जो संभवतः पांच या दस गांवों का समूह होती थी। इसका महत्वपूर्ण अधिकारी गोप होता था जिसका काम सामान्य प्रशासन की देख रक रेख करना था। गोप के अतिरिक्त स्थानिका नामक अधिकारी भी होता था जिसका मुख्य कार्य कर की वसूली था। वह सीधे प्रादेशिक के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानिका आधुनिक सहायक कलेक्टर और प्रादेशिका जिला कलेक्टर के समान थे और ये दोनों अधिकारी समाहर्ता या चीफ कलेक्टर के अधीन होते थे।

सबसे निचले स्तर पर ग्रामीण प्रशासन था जिसका प्रधान मुखिया होता था। वह ग्रामीण वृद्धजनों में से निर्वाचित होता था। छोटे गांवों में मुखिया ही एक मात्र अधिकारी होता था किन्तु बड़े गांवों में मुखिया की सहायता के लिए लेखपाल एवं लिपिकों की नियुक्ति की जाती थी और अधिकारियों का वेतन या तो भू-राजस्व से या फिर भूमि प्रदान करके पूरा किया जाता था।

1.2.1.7 नगर प्रशासन

मौर्यकाल में नगर प्रशासन का अपना श्रेणीबद्ध संगठन था। नगर प्रशासन का प्रधान नगरक नामक अधिकारी होता था। अशोक के एक अभिलेख में नगर-व्यवहारिक की चर्चा की गयी है। नगरक या नगर निरीक्षक का काम नगर कानून व्यवस्था बनाए रखना था। आकाल पड़ने पर गोदामों से अनाज बंटवाने का काम भी नगरक करता था। इस नगरक नामक अधिकारी की सहायता एवं मंत्रणा के लिए समाहर्ता एवं प्रादेशिका नामक अधिकारी होते थे। मेगस्थनीज के इंडिका में विस्तार से पाटलिपुत्र के नगर प्रशासन की चर्चा की गयी है। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र के प्रशासक के लिए पांच-पांच सदस्यों की छः समितियां होती थी, जिनके कार्य एवं कार्तव्य निम्नलिखित थे- उद्योगों व शिल्पों का निरीक्षण, विदेशियों की देखभाल, जन्म-मरण का पंजीकरण, वाणिज्य व्यापार की देखभाल, सार्वजनिक बिक्री का निरीक्षण और बिक्री कर संग्रह।

1.2.1.8 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रासंगिकता

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत में लोक प्रशासन पर किया गया सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। यद्यपि अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से लोक प्रशासन के सिद्धान्त नहीं रखे गये हैं, लेकिन इसमें वर्णित सरकारी कार्यप्रणाली महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने एक कल्याणकारी प्रशासन की बात की थी। राजा को प्रजा के हित के लिए कार्य करना चाहिए। उसे

प्रजा को पुत्र की भांति पालना चाहिए, क्योंकि 'प्रजा हिते, हिते राज्ये, प्रजानाम च सुखे सुखम्'। अर्थात् प्रजा के हित में ही राज्य का हित है और प्रजा के सुख से ही राज्य सुखी है। कल्याणकारी प्रशासन के साथ ही कौटिल्य ने सुशासन की बात की है, अर्थात् जनता की सारी सुविधाओं को सरकार द्वारा मुहैया कराया जाना चाहिए। क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार उन्हें संसाधन उपलब्ध कराना राष्ट्र का दायित्व है।

कौटिल्य ने राजस्व संग्रहण के सन्दर्भ में उचित करारोपण को महत्व दिया है। करारोपण राज्य की आवश्यकता व प्रजा की स्थिति के अनुरूप होना चाहिए, उसके अनुसार उचित करारोपण की व्यवस्था वैसी ही होनी चाहिए, जैसे वृक्ष से फल गिरते हैं। कौटिल्य ने जट को जनता को खुशहाली की गारंटी देती है। कौटिल्य का कथन है कि सभी उद्यम वित्त पर निर्भर है अतः कोषागार पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

कौटिल्य का विचार है कि राजा का लोकसेवक कोषागार रक्षक मात्र होना चाहिए। प्रशासन के नियमों का उल्लंघन करने पर न्यायपालिका के दायरे में नहीं आते, किन्तु निजी गुप्तचर व्यवस्था तथा विदेश सम्बन्धी आदि विषयों पर कौटिल्य के द्वारा दिए गये विचार वर्तमान भारतीय प्रशासन के सन्दर्भ में पर्याप्त रूप से प्रासंगिक है।

1.2.2 मुगल प्रशासन

मुगल प्रशासन, जिसने प्रशासन को एक नयी दिशा दी, का अध्ययन निम्न बिन्दुओं के आधार पर करते हैं-

1.2.2.1 केन्द्रीय प्रशासन

प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है।

मुगल बादशाह बहुत शानो-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। उनको बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनकी इच्छा ही कानून थी। तुर्की मंगोल परम्परा से ही मुगल प्रशासन को केन्द्रीकृत प्रशासन की अवधारणा विरासत में प्राप्त हुई थी। वैसे कुछ विद्वानों का मानना है कि अकबर के समय केन्द्रीकृत तुर्की मंगोल परम्परा में संशोधन किया गया। इन सबके उपरान्त भी राजा का जीवन नियमों से बंधा हुआ था और यह माना जाता था कि जनता की भलाई

में ही राजा की भलाई है। कुरान में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि प्रजा के कल्याण का पूरा उत्तर दायित्व राजा के कंधों पर है। केन्द्रीय प्रशासन के संचालन हेतु राजा के द्वारा निम्नांकित पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी-

1. **वकील या वजीर-** वकील सम्पूर्ण प्रशासन का पर्यवेक्षण करता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था, यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जाँच भी करता था।
2. **दीवाने-आला/दीवाने-कुल-** दीवाने आला वित्तीय शक्तियाँ रखता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था। यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जाँच भी करता था।
3. **मीर बख्शी-** यह साम्राज्य का सर्वोच्च भुगतान अधिकारी होता था क्योंकि मुगलकाल में मनसबदारी प्रथा प्रचलित थी तथा सैनिक एवं असैनिक सेवाओं का एकीकरण किया गया था। इसलिए यह साम्राज्य के सभी अधिकारियों को भुगतान करता था। यह मनसबदारों की नियुक्ति की सिफारिश करता था और उनके लिए जागीर की अनुशंसा करता था।
4. **दीवाने-शामा/खान-ए-शामा-** यह राजकीय कारखानों का निरीक्षण करता था तथा राजकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन कारखानों के उत्पादन को नियंत्रित करता था।
5. **सद्र-उस-सूद्र-** यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकद्दमे भी देखता था।
6. **मुख्य काजी-** यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।
7. **मुहतसिब-** यह जनता के नैतिक आचरण का निरीक्षण करता था और देखता था कि शरीयत के अनुसार कार्य हो रहा है या नहीं साथ ही यह माप तौल का निरीक्षण भी करता था।

उपरोक्त सातों अधिकारियों के अतिरिक्त केन्द्रीय प्रशासन में कुछ छोटे-छोटे पद भी होते थे, जैसे- दरोगा-ए-तोपखाना, दरोगा-ए-डाकचौकी, मीर-माल (टकसाल प्रधान), मीर-बर् (वन अधीक्षक) आदि।

1.2.2.2 प्रान्तीय प्रशासन

मुगल सम्राट बाबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन जागीरों में किया था तथा उसके समय किसी प्रकार की प्रान्तीय प्रशासनिक व्यवस्था विकसित नहीं हुई थी। सबसे पहले पहले एकरूप प्रान्तों का निर्माण अकबर के शासनकाल में

हुआ। सन् 1580 में अकबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन 12 प्रान्तों में किया, जिसकी संख्या शाहजहां के काल तक 22 हो गयी। अकबर की प्रशासनिक नीति प्रशासनिक एक रूपता तथा रोक और संतुलन के सिद्धांतों पर आधारित थी परिणामस्वरूप प्रान्तीय प्रशासन का ही प्रतिरूप था।

प्रान्तीय प्रशासन का प्रमुख सूबादार/नजीम कहलाता था, जिसकी नियुक्ति बादशाह करता था। आमतौर पर सूबेदार का कार्यकाल तीन वर्ष का होता था। नजीम की सहायता हेतु कुछ अन्य अधिकारी भी होते थे। प्रान्तीय दीवान की नियुक्ति केन्द्रीय दीवान की अनुशंसा पर बादशाह करता था। प्रान्तीय दीवान, नजीम के बराबर का अधिकारी होता था और कभी-कभी श्रेष्ठ अमीर को भी दीवान का पद दे दिया जाता था। इसी तरह प्रान्तीय बख्शी की नियुक्ति केन्द्रीय बख्शी की अनुशंसा पर होती थी और प्रान्तीय बख्शी सुरक्षा से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण बातें नजीम को बताए बिना केन्द्रीय बख्शी तक प्रेषित कर देता था। अकबर ने केन्द्रीय सद्र शक्ति को कम करने के लिए प्रान्तीय सद्र को नियुक्त करना शुरू किया। अब प्रान्तीय सद्र के परामर्श से भी धार्मिक बातों का निर्णय लिया जा सकता था। इनके अतिरिक्त प्रान्तीय स्तर पर काजी भी होता था।

1.2.2.3 स्थानीय प्रशासन

प्रान्तों के विभाजन सरकार में होता था। सरकार से जुड़े हुए अधिकारी थे- फौजदार, अमालगुजार, खजानदार आदि। फौजदार शांति व्यवस्था की देख-रेख करता था और अमालगुजार भू-राजस्व से जुड़ा अधिकारी था। खजानदार सरकार के खजाने का संरक्षक होता था। कभी-कभी एक सरकार में कई फौजदार होते थे और कभी-कभी दो सरकारों पर एक फौजदार भी होता था। सरकार का विभाजन परगनों में होता था। परगनों से जुड़े अधिकारी सिकदार, आमिल, पोतदार, कानूनगों आदि थे। सिकदार शांति व्यवस्था का संरक्षक होता था और भू-राजस्व संग्रह में आमिल की सहायता करता था। आमिल भू-राजस्व प्रशासन से जुड़ा अधिकारी था। पोतदार, खजांची को कहा जाता था तथा कानूनगो गाँव के पटवारियों का मुखिया होता था और स्वयं कृषि भूमि का पर्यवेक्षण करता था।

सबसे नीचे ग्राम होता था जिससे जुड़े अधिकारी मुकद्दमे और पटवारी थे। मुगलकाल में ग्राम पंचायत की व्यवस्था थी। इस विभाजन के अतिरिक्त नगरों में कानून व्यवस्था की देख-रेख के लिए कोतवाल की नियुक्ति होती थी। अबुल फजल के आइने-अकबरी में कोतवाल के कार्यों का विवरण दिया गया है। इसी तरह प्रत्येक किले पर किलेदार कीह नियुक्त होती थी।

इस प्रकार मुगल प्रशासन केन्द्रीय प्रशासन से लेकर गाँव तक शृंखलाबद्ध था। लेकिन कुछ इतिहासकार जिनमें इरफान हबीब और आर्थर अली महत्वपूर्ण हैं, मुगल प्रशासनिक ढाँचे को अतिकेन्द्रीकृत मानते हैं।

1.2.2.4 मनसबदारी व्यवस्था

अकबर के द्वारा स्थापित की गयी मनसबदारी पद्धति मौलिक रूप से एक प्रशासनिक सामरिक उपकरण थी, जिनका उद्देश्य अमीरों एवं सेना का एक सक्षम संगठन स्थापित करता था। वस्तुतः मनसबदारी पद्धति की व्याख्या केन्द्रीकृत राजनैतिक ढाँचे के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। इसके साथ साम्राज्य की शक्ति को एक चैनल में बांध दिया गया और अमीर-वर्ग, सेना तथा नौकरशाही तीनों को जोड़ दिया गया।

मुगल साम्राज्य के सभी पंजीकृत अधिकारियों को एक मनसब प्रदान किया गया, जो जोड़े के अंक में प्रस्तुत किया जाता था। प्रथम, संबंधित अधिकारी के जात रैंक का बोध होता था तथा दूसरे उसके सवार रैंक का बोध कराता था। जात रैंक किसी भी अधिकारी का विभिन्न अधिकारियों के पदानुक्रम में पद और स्थान को निर्धारित करता था। दूसरी तरफ सवार रैंक उसके सैनिक उत्तर दायित्व को रेखांकित करता था। सैद्धान्तिक रूप से मनसब के कुल 66 ग्रेड होते थे। निम्नतम 10 और उच्चतम 10 हजार होता था, किन्तु व्यवहारिक रूप में केवल 33 ग्रेड ही प्रचलित थे। पांच हजार से अधिक रैंक सामान्यतः राजकीय व्यक्ति को ही प्रदान किए जाते थे, किन्तु यह प्रतिष्ठा कुछ राजपूत योद्धाओं को भी प्राप्त हुई।

1.2.2.5 जागीरदारी प्रथा

वस्तुतः जागीरदारी पद्धति की स्थापना के पीछे साम्राज्य का एक व्यापक उद्देश्य था, जिसके द्वारा उन राजपूत जमींदारों से भू-राजस्व संग्रह करना सम्भव हो गया, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था, किन्तु उस समय के कुलीन वर्ग को भू-संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अंतर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इक्तादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की

वसूली का अधिकार दिया गया था संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं, जागीरदार को राजकीय नियमों के अनुरूप केवल प्राधिकृत राजस्व वसूलने का अधिकार था तथा प्रशासनिक कार्यों के लिए राज्य जिम्मेदार था। यदि भू-राजस्व की वसूली में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित होता, तो जागीरदार उस क्षेत्र के फौजदार से सैनिक सहायता भी प्राप्त कर सकता था। जागीरदारी व्यवस्था के द्वारा प्रशासनिक केन्द्रीकरण का प्रयास हुआ था और नौकरशाही को ग्रामीण समुदाय पर आरोपित कर दिया गया था।

1.2.3 ब्रिटिश प्रशासन

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। प्रारम्भ में कम्पनी का उद्देश्य व्यापार करना था और मुम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के बंदरगाहों से होकर शेष भारत से इसका सम्पर्क रहता था। धीरे-धीरे कम्पनी की प्रादेशिक महत्वाकांक्षा प्रबल होती गयी और शीघ्र ही वह भारत में एक प्रमुख युरोपीय शक्ति बन गयी। यही कम्पनी आगे चलकर मुगल शासन की उत्तराधिकारी बनी। प्लासी और बक्सर के युद्ध के बाद भारत में कम्पनी की साम्राज्यीय महत्वाकांक्षाएं प्रबल हुई और सन् 1765 की इलाहाबाद की संधि के द्वारा कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अधिकार प्राप्त हुए, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की शुरुआत हुई, जहां कि राजस्व संग्रहण का कार्य ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में था, लेकिन सामान्य प्रशासन की जिम्मेदारी संबंधित प्रान्त में मुगल प्रशासन द्वारा नियुक्त नवाब के जिम्मे होती थी। इस प्रकार कर्तव्य नवाब के पास थे लेकिन शक्तियाँ कम्पनी के पास। यद्यपि नवाब की नियुक्ति में भी कम्पनी का हस्तक्षेप होता था और उप-नवाब की नियुक्ति का अधिकार तो कम्पनी के पास ही था। इस प्रकार सारी शक्तियाँ कम्पनी के हाथ में केन्द्रीत हो गयी, लेकिन कर्तव्य और उत्तरदायित्व नहीं, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की वजह से अकाल, अव्यवस्था जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

कम्पनी के शासन की शुरुआत होने और उसकी शक्तियों में वृद्धि होने के साथ-साथ ब्रिटिश संसद का भी भारतीय प्रशासन सम्बन्धी मामलों में कम्पनी के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रारम्भ हुआ, जो कि 1857 की क्रांति के बाद कम्पनी शासन की समाप्ति और भारत में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन की स्थापना में परिणत हो गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की स्थापना के बाद ब्रिटिश संसद ने समय समय पर विभिन्न अधिनियम पारित करके कम्पनी के शासन पर नियंत्रण करने का प्रयास किया, जिनकी संक्षिप्त चर्चा निम्नांकित रूप में की जा सकती है-

1.2.3.1 केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास

भारतीय संवैधानिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था के विकास में सन् 1773 के रेग्युलेटिंग एक्ट का विशेष महत्व है। सरकार ने कम्पनी के आर्थिक, प्रशासनिक एवं सैनिक कार्यों पर संसद के आंशिक नियंत्रण के लिए यह अधिनियम पारित किया था। इस अधिनियम के द्वारा बंगाल के गवर्नर को कम्पनी के भारतीय प्रदेशों का गवर्नर जनरल बनाया गया तथा इसकी सहायता के लिए चार सदस्यों की एक परिषद की स्थापना की गयी। इस कानून में मुम्बई और मद्रास के प्रेसीडेंसी को कलकत्ता प्रेसीडेंसी बंगाल के अधीन कर दिया गया, साथ ही भारतीय मामलों में संसद का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप आरम्भ हुआ। परिणामस्वरूप इस कानून से भारत में प्रशासन के केन्द्रीकरण का कार्य शुरू हुआ।

सन् 1784 में पिट्स इंडिया एक्ट के माध्यम से गवर्नर जनरल की कौंसिल में सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी, साथ ही मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेंसियों पर गवर्नर जनरल के निरीक्षण एवं नियंत्रण के अधिकार अधिक स्पष्ट कर दिए गये। इस अधिनियम का उद्देश्य कम्पनी पर ब्रिटिश क्राउन का नियंत्रण बढ़ाना था। अतः ब्रिटेन में छः सदस्यों के 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' की स्थापना की गयी। '1786 के अधिनियम' के द्वारा गवर्नर जनरल को परिषद् से अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी और उसे मुख्य सेनापति बनाया गया।

1793 के अधिनियम से गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल की अनुशंसा को रद्द करने का अधिकार दिया गया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा भारत में ब्रिटिश कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, लेकिन भू-राजस्व प्रशासन एवं भारतीय प्रशासन का कार्य कम्पनी के अधीन रहने दिया गया। 1833 के चार्टर अधिनियम से बंगाल का गवर्नर भारत का गवर्नर जनरल कहलाने लगा। बंबई एवं मद्रास प्रेसीडेंसी को पूर्णतः बंगाल के अधीन कर दिया गया। सम्पूर्ण भारत के लिए विधि निर्माण का एकाधिकार गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद को प्रदान किया गया तथा बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी से विधि निर्माण के अधिकार छीन लिए गये। अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल की काउंसिल में एक चौथा सदस्य फिर से जोड़ा गया, जिसे विधि सदस्य का नाम दिया गया। इस प्रकार इस अधिनियम से भारत में केन्द्रीकृत प्रशासन की स्थापना हुई।

‘1858 के अधिनियम’ द्वारा भारत पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद के शासन की स्थापना हुई। भारत सचिव के पद का सृजन किया गया। तथा समस्त संवैधानिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियाँ भारत सचिव तथा उसकी 15 सदस्यीय परिषद में केन्द्रित हो गयी। भारत में सत्ता का केन्द्रीकरण गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद में निहित हो गया। गवर्नर जनरल को वायसराय कहा जाने लगा।

1861 के अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गये। पहली बार प्रान्तीय विधायिकाओं की स्थापना हुई। यद्यपि इनके कई अधिकार सीमित थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद तथा विधायिका का पुनर्गठन किया गया। अधिनियम की व्यवस्था द्वारा कार्यकारिणी के महत्व में कमी एवं गवर्नर जनरल के प्रभाव में वृद्धि हुई। गवर्नर जनरल को इस बात के लिए अधिकृत किया गया कि वह प्रशासनिक व्यवस्था हेतु विधि बनाए। कैनिंग के द्वारा विभागीय व्यवस्था की शुरूआत की गयी। अधिनियम के द्वारा मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसी को पुनः विधिक निर्माण के अधिकार तथा अन्य प्रान्तों में ऐसी ही विधायिकाओं की स्थापना की व्यवस्था करके विधि-निर्माण में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया की नींव पड़ी।

1892 के भारतीय परिषद अधिनियम के अन्तर्गत विधायिकाओं की सदस्य संख्या और शक्ति में वृद्धि हुई तथा प्रतिनिधि संस्थाओं की सिफारिशों पर मनोनीत किया जाने लगा। 1909 के मार्ले-मिंटो सुधारों द्वारा विधायिकाओं की सदस्य संख्या में वृद्धि हुई परन्तु बहुमत सरकारी सदस्यों का ही बना रहा। अधिनियम में अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति को अपनाया गया अर्थात् केन्द्रीय विधान परिषद में विभिन्न प्रान्तों से सदस्य चुनकर आने थे। इस अधिनियम का सबसे बड़ा दोष पृथक निर्वाचन व्यवस्था थी।

1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को स्थान दिया गया। केन्द्रीय स्तर पर द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना हुई। अधिनियम के द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर को अपने पार्षदों की सहायता से करना था तथा हस्तांतरित विषयों का प्रशासन निर्वाचित मंत्रियों की सहायता से किया जाना था।

सन् 1919 से स्वतंत्रता तक, प्रशासनिक व्यवस्था ‘1935 के भारत सरकार अधिनियम’ का भारत के संवैधानिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस अधिनियम ने भारत में संघात्मक व्यवस्था का सूत्रपात किया। इस संघ का निर्माण ब्रिटिश भारत के प्रान्तों, देशों राज्यों और कमिश्नरी के प्रशासनिक क्षेत्र को मिलाकर किया जाना था। संघ स्तर पर ‘द्वैध शासन-प्रणाली’ को अपनाया गया और आंशिक उत्तर दायी शासन की स्थापना करने का प्रावधान

किया गया। संघीय कार्यपालिका, संघीय विधान मण्डल तथा संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी। प्रान्तों में प्रान्तीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकार की कार्यपालिका शक्ति समस्त प्रान्तीय विषयों तक स्थापित हो गयी। प्रान्तों से द्वैध शासन-प्रणाली का अन्त कर दिया गया, किन्तु व्यवहार में गवर्नर की शक्ति अब भी बनी रही। गवर्नर की शक्तियों को तीन भागों में विभाजित किया गया, पहला- स्वेच्छा से काम में आने वाली शक्तियाँ, दूसरा- व्यक्तिगत शक्तियाँ और तीसरा- विधायिका के प्रति उत्तर दायी मंत्रियों की सलाह से काम में आने वाली शक्तियाँ।

इस अधिनियम का सबसे विवादास्पद पहलू धारा- 93 थी, जिसके अनुसार गवर्नर विशेष परिस्थितियों में प्रान्तीय प्रशासन को अपने नियंत्रण में ले सकता था। इसी शक्तियों का प्रयोग कर 1939 में विभिन्न प्रान्तों में गवर्नर ने शासन कार्य अपने हाथ में ले लिया। भारतीय स्वतंत्रता तक इसी अधिनियम के अनुसार भारतीय प्रशासन का संचालन किया जाता रहा। स्वतंत्रता के बाद भारतीय प्रशासन स्वतंत्र भारत के संविधान द्वारा प्रारम्भ हुआ।

1.2.3.2 केन्द्रीय सचिवालय का विकास

स्वतंत्र भारत में केन्द्रीय सचिवालय औपचारिक रूप से 30 जनवरी, 1948 को स्थापित हुआ, लेकिन मूल रूप से केन्द्रीय सचिवालय अन्य प्रशासनिक संस्थाओं की भाँति ब्रिटिश शासनकाल की देन है। ब्रिटिश काल में इसे “इंपीरियल सेक्रेटेरिएट” कहा जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य के समय भारत में प्रशासनिक एकता स्थापित करने में केन्द्रीय सचिवालय की विशेष भूमिका थी। समय के परिवर्तन के साथ जैसे जैसे सरकार का कार्यभार बढ़ता गया, विभागों की संख्या भी बढ़ती गयी। 1919 से 1947 तक का काल केन्द्रीय सचिवालय में विभिन्न सुधारों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा। सन् 1919 की लिविलियन स्मिथ कमेटी के सुझाव पर-

- विभागीय विषयों को पुनर्गठित किया गया।
- लिखित आलेखों की प्रथा प्रारम्भ की गयी।
- केन्द्रीकृत भर्ती की व्यवस्था आरम्भ हुई।
- सचिवालय में प्रतिनियुक्ति व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया।

1919 में पुनर्गठित सचिवालय में कुल 11 विभाग थे।

सन् 1936-37 में नियुक्त होने वाली व्हीलर समिति और मैक्सवेल समिति (संगठन तथा प्रक्रिया समिति) ने केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्य-पद्धति में सुधार हेतु और भी सुझाव प्रस्तुत किए। आजादी के उपरान्त

गठित सरकार को कुछ ऐसी विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ा, जिनके परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार अत्यधिक हो गया। ये समस्याएँ निम्नांकित थीं-

- देश का विभाजन होने के कारण पाकिस्तान से आए शरणार्थियों को भारत में बसाना।
- जम्मू-कश्मीर में बाह्य आक्रमण की समस्या।
- रियासतों का भारतीय संघ में एकीकरण।
- आंतरिक सुरक्षा की समस्या।
- आवश्यक वस्तुओं के अभाव की समस्या।
- प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में भारी मात्रा में कमी।

कल्याणकारी राज्य की स्थापना से प्रेरित होने के कारण भी सरकार के कार्यभार में अत्यधिक मात्रा में बढ़ोत्तरी हुई, परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार बढ़ा 15 अगस्त, 1947 को जब सत्ता का हस्तांतरण हुआ तो केन्द्रीय सचिवालय में 19 विभाग थे, जिनका फिर से पुनर्गठन एवं सुधार करने के लिए स्वतंत्र भारत की सरकार ने सर गिरिजा शंकर बाजपेयी की अध्यक्षता में सचिवालय पुनर्गठन समिति की स्थापना की। कालांतर में विभागों की संख्या बढ़ी जैसे 1978 में 69 विभाग और 2001 में 81 विभाग।

1.2.3.3 वित्तीय प्रशासन का विकास

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासक स्थापित होने के बाद प्रान्तों को वित्त के सम्बन्ध में बहुत अधिक सीमा तक स्वतंत्रता दी गयी, किन्तु 1833 के चार्टर अधिनियम के द्वारा वित्त का केन्द्रीकरण कर दिया गया। अधिनियम के द्वारा यह निश्चित किया गया कि किसी प्रान्तीय सरकार को नए पद तथा नए वेतन भत्ते की स्वीकृति का अधिकार नहीं होगा, जब तक कि गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति न मिल जाए।

1833-1870 तक प्रान्तीय सरकारें केन्द्र सरकार के अभिकर्ता के रूप में ही कार्य करती रहीं, उन्हें कर लगाने अथवा उसे खर्च करने का कोई अधिकार नहीं था। सर्वप्रथम 1870 में वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में लार्ड मेयो की सरकार द्वारा एक निश्चित योजना को अपनाया गया।

- जिसके अन्तर्गत जेलें, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा, सड़कें, चिकित्सा सेवाएँ, छपायी आदि के व्यय की मदों तथा उनसे प्राप्त होने वाले राजस्व को प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दिया गया।
- प्रान्तों को कुछ निश्चित वार्षिक अनुदान देने की व्यवस्था की गयी।

1877 में स्ट्रेची द्वारा प्रस्तावित नवीन योजना के अन्तर्गत भूमि कर, स्थानीय चुंगी, स्टाम्प, स्टेशनरी, कानून व न्याय और सामान्य प्रशासन की कुछ व्यय मदें प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दी गयी। वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में 1882 में प्रस्तावित नई योजना के अनुसार राजस्व के समस्त साधनों को तीन भागों में विभक्त किया गया। केन्द्रीय, प्रान्तीय व विभाजित।

केन्द्रीय मदों से प्राप्त होने वाले राजस्व को केन्द्रीय नियंत्रण में तथा प्रान्तीय राजस्व को प्रान्तीय नियंत्रण में रखा गया। विभाजित मदों से प्राप्त होने वाली आय को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच बराबर-बराबर बांटने का निश्चय किया गया। विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में 1907 में चार्ल्स हॉब हाऊस की अध्यक्षता में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने सिफारिश की, कि गवर्नर जनरल को प्रान्तीय राजस्व में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय बजट केन्द्र सरकार से बिल्कुल पृथक कर दिए गये और प्रान्तीय सरकारों को अपने बजट के निर्माण का पूर्ण अधिकार दिया गया। प्रान्तों को पहली बार प्रान्तीय या स्थानीय प्रकृति के कर लगाने का अधिकार मिला। 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वायत्ता की व्यवस्था की गयी और संघीय सरकार तथा प्रान्तों के बीच तीन सूचियों के आधार पर न केवल कार्यों का वर्गीकरण किया गया, बल्कि वित्तीय साधनों का भी विभाजन किया गया। संघ सरकार तथा राज्यों के पृथक-पृथक आय साधन रखे गये। कुछ सीमा में प्रान्तों को उधार लेने का अधिकार भी दिया गया। प्रान्तों को अपना घाटा पूरा करने के लिए केन्द्र सरकार की ओर से निमेंयर रिपोर्ट के अनुसार वित्तीय सहायता प्रदान की गयी। निमेंयर रिपोर्ट की इस बात को स्वीकार कर लिया गया, कि आयकर की भी आधी धनराशि प्रान्तों में बांट दी जाए।

1.2.3.4 पुलिस प्रशासन का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के उपरान्त भारत में कानून-व्यवस्था की स्थिति बगड़ती गयी। पुलिस शक्ति क्षेत्रीय जमींदारों के हाथ आ गयी। जब क्लाइव ने बंगाल की दीवानी प्राप्त की तो उसने प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था को बनाए रखा। वारेन हेस्टिंग्स ने भी पुलिस व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया। सर्वप्रथम कर्नवालिस ने एक संगठित

पुलिस व्यवस्था की शुरुआत की। उसने थाना व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक पुलिस थाने की स्थापना कर उसे एक दरोगा के अधीन रखा। जिला स्तर पर जिला पुलिस अधीक्षक के पद का सृजन किया गया। ग्राम स्तर पर चौकीदारों को पुलिस शक्ति दी गयी। इस तरह आधुनिक पुलिस व्यवस्था की शुरुआत हुई।

सक्षम पुलिस व्यवस्था ने बहुत सारे उद्देश्य पूरे किए। मध्य भारत में ठगों का दमन, क्रांतिकारी षड्यंत्रों का पर्दाफाश तथा राष्ट्रीय आंदोलन को इसी पुलिस व्यवस्था के द्वारा कुचला गया। इसने भारतीय जनता के साथ क्रूर व्यवहार भी किया। 1813 ईस्वी में संसद की एक समिति ने रिपोर्ट दी कि पुलिस ने भारतीय जनता को डाकुओं की तरह प्रताड़ित किया है। वस्तुतः महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के मामले में ब्रिटिश कम्पनी सतर्क रही। कार्नावालिस ने तो स्पष्ट रूप से भारतीयों को भ्रष्ट मान लिया एवं उन्हें उत्तर दायी पदों से दूर रखा। कुछ छोटे-छोटे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति अवश्य की गयी, जैसे- अमीन एवं दरोगा। 1793 ईसवी के बाद आधिकारिक नीति भारतीयों को महत्वपूर्ण पदों से वंचित करने की रही।

1.2.3.5 न्याय व्यवस्था का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद मुगलकालीन न्याय व्यवस्था टूट गयी। मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में भूमि सुपुर्दगी प्रथा से समृद्ध भू-स्वामियों के हाथों में आ गयी। न्यायिक शक्तियाँ भी भू-स्वामियों के हाथों में आ गयी। बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद क्लाइव ने प्रचलित व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। न्याय व्यवस्था में सुधार की दृष्टि से वारेन हेस्टिंग्स का काल महत्वपूर्ण है। भारत में ब्रिटिश न्याय प्रणाली की स्थापना इसी काल में हुई ब्रिटिश न्याय प्रशासन भारतीय और ब्रिटिश प्रणालियों तथा संस्थाओं का सम्मिश्रण था। कानून के शासन तथा न्याय पालिका की स्वतंत्रता इस प्रणाली की विशेषता थी। वारेन हेस्टिंग्स ने सिविल तथा फौजदारी मामलों के लिए अलग-अलग अदालतें स्थापित की। उसने न्याय सुधार में मुगल व्यवस्था को ही आधार बनाया।

सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स ने सिविल अदालतों की शृंखला स्थापित की। सबसे नीचे मुखिया, फिर जिले में जिला दीवानी अदालत तथा सबसे ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी। इसी तरह फौजदारी अदालतों का पुनर्गठन किया गया। प्रत्येक जिले में एक फौजदारी अदालत स्थापित की गयी जो काजी, मुफ्ती एवं मौलवी के अधीन होती थी। इसके ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी।

कार्नवालिस के द्वारा उपरोक्त व्यवस्था में सुधार किए गये। उसके सुधारों में यूरोपीय तत्व प्रबल थे। कार्नवालिस ने शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के अन्तर्गत लगान प्रबन्ध से दीवानी प्रशासन को पृथक् कर दिया। 1793 में कार्नवालिस संहिता द्वारा कलेक्टर से न्यायिक एवं फौजदारी शक्तियाँ ले ली गयीं। जिला अदालतों के लिए श्रेणी निर्धारित की गयी तथा दीवानी अदालतों का पुनर्गठन हुआ। फौजदारी अदालतों की भी नई शृंखला बनाई गयी। इसके अतिरिक्त विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दण्ड-संहिता में परिवर्तन किया। विलियम बैंटिक के शासनकाल में उपयोगितावादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दण्ड विधान की कठोरता को कम करने का प्रयत्न किया गया। कुछ महत्वपूर्ण न्यायिक पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया गया। 1859 से 1861 के बीच दण्ड विधि, सिविल कार्य विधि तथा दण्ड प्रक्रिया पारित की गयी। इन सुधारों में सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही विधि प्रणाली लागू की गयी। 1861 में भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पारित हुआ तथा कलकत्ता एवं मद्रास में उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। आगे लाहौर, पटना आदि स्थानों पर भी उच्च न्यायालय स्थापित हुए। 1935 के भारत शासन अधिनियम के आधार पर एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी। इस न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा सरकार द्वारा नियुक्त अन्य न्यायाधीश होते थे। न्यायालय के क्षेत्र में प्रारम्भिक एवं अपीलीय तथा परामर्श सम्बन्धी विषय थे। प्रान्तीय न्यायालयों को दीवानी, आपराधिक, वसीयती, गैर-वसीयती और वैवाहिक क्षेत्राधिकार मौलिक एवं अपीलीय दोनों प्रकार के प्राप्त थे।

अभ्यास प्रश्न-

1. रेग्यूलेटिंग एक्ट कब पारित हुआ?
2. पिट्स इंडिया एक्ट कब पारित हुआ?
3. ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतमें आगमन कब हुआ?
4. 1919 के अधिनियम को किस नाम जाना जाता है?
5. केन्द्रीय स्तर पर द्विसदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना किस अधिनियम से हुई?
6. अशोक ने किस शिलालेख में घोषणा की कि “सारी प्रजा मेरी संतान है”?
7. अर्थशास्त्र के लेखक कौन हैं?
8. मेगस्थनीज की पुस्तक का क्या नाम है?

1.3 सारांश

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के पश्चात आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरू करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। इस अध्ययन में आप ने यह देखा कि मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था जिसमें शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद हो गया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गये। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थी। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का सम्पादन ही राजा का प्रमुख कर्तव्य था। प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता है था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था और बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है। इसके बाद भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

1.4 शब्दावली

राजतंत्र- राजतंत्र वह शासन है जिसमें शासन का प्रधान राजा होता है। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ निहित हों।

सद्र-उस-सूद्र- यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकद्दमे भी देखता था।

मुख्य काज- मुगल काल में यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।

जागीरदारी प्रथा- मुगल काल में राजपूत जमींदारों के माध्यम से भू-राजस्व संग्रह करने की प्रथा, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था, किन्तु उस समय के कुलीन-वर्ग को भू-संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अन्तर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

इक्तादारी और जागीरदारी प्रथा- दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था, जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इक्तादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की वसूली का अधिकार दिया गया था, संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं।

1.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1773, 2. सन् 1784, 3. सन् 1600, 4. मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड, 5. मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड, 6. धौली शिलालेख, 7. कौटिल्य, 8. इंडिका

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी०एल० फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

1.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी०डी० बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस०सी० सिंहल।

1.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश काल में भारतीय प्रशासन के विकास पर निबंध लिखिये।
2. मुगल प्रशासन, केन्द्रीय प्रशासन था, स्पष्ट कीजिये।
3. मौर्य प्रशासन में राजा पर कर्तव्य का अंकुश था, व्याख्या कीजिये।

इकाई-2 भारतीय प्रशासन की विशेषताएं

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तर दायी कारण

2.3 भारतीय प्रशासन की विशेषताएं

2.3.1 गतिशील प्रशासन

2.3.2 विकास प्रशासन

2.3.3 उत्तर दायी प्रशासन

2.3.4 नौकरशाही एवं लालफीताशाही

2.3.5 प्रशासन की तटस्थता

2.3.6 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ

2.3.7 प्रशासन की बढ़ती हुई शक्तियाँ

2.3.8 प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक-आर्थिक न्याय

2.3.9 समन्वित प्रशासन

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

प्रथम इकाई के अध्ययन के पश्चात आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरू करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

इस इकाई में हम भारतीय प्रशासन की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। जिसमें हम स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तर दायी कारणों का अध्ययन करते हुए संसदीय लोकतंत्र, संघात्मक शासन, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन की बदलती प्रकृति (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन) का अध्ययन करेंगे। साथ ही यह भी देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय संविधान, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है और अंततः हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार भारतीय प्रशासन गतिशील प्रशासन है, विकास प्रशासन है, उत्तर दायी प्रशासन है और राजनीतिक उथल-पुथल से अपने को अलग रखते हुए सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समन्वित रूप से कार्य कर रहा है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तर दायी कारणों को जान सकेंगे।
- भारतीय प्रशासन की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- संसदीय लोकतंत्र की स्थापना के उद्देश्यों को जान सकेंगे।
- संघात्मक शासन और उसकी स्थापना के कारणों को जान सकेंगे।

2.2 स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तर दायी कारण

जैसा कि हम जानते हैं कि 15 अगस्त 1947 को हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। देश को आजादी मिलाने के साथ ही उन सपनों को साकार करने के लिए भी प्रयास शुरू किये जाने लगे, जिनको लक्ष्य मानकर आजादी के दीवानों ने संघर्ष किया था। लेकिन उन सपनों को साकार करने के लिए यह आवश्यक था कि उसके अनुरूप प्रशासनिक तंत्र का निर्माण किया जाए साथ ही साथ इस नवनिर्मित प्रशासनिक तंत्र के लक्ष्य भी स्पष्ट किये जाए। स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई कारण उत्तर दायी थे, जो निम्नलिखित हैं-

2.2.1 संसदीय लोकतंत्र की स्थापना

स्वतंत्रता के पश्चात देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी। आजादी के पूर्व कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तर दायी नहीं थी, वह केवल ब्रिटिश आकाओं के प्रति ही उत्तर दायी थी। परन्तु संसदीय लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही कार्यपालिका को विधायिका के प्रति उत्तर दायी बनाया गया। कार्यपालिका का अर्थ मंत्रिमण्डल से है, जबकि विधायिका का तात्पर्य कानून निर्माण करने वाली संस्था 'संसद' से है। कार्यपालिका का गठन संसद के सदस्यों में से किया जाता है और कार्यपालिका के गठन का अवसर उस दल को मिलाता है, जिसे संसद के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त होता है और संसद के निम्न सदन में जनप्रतिनिधि होते हैं जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आते हैं। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि कार्यपालिका अपने अस्तित्व के लिए जनप्रतिनिधियों के बहुमत के साथ समर्थन पर निर्भर करती है और ये जनप्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तर दायी होते हैं। इस प्रकार अब प्रशासन, ब्रिटिश शासन के विपरीत, जनता के प्रति उत्तर दायी हैं।

2.2.2 संघात्मक शासन की स्थापना

ब्रिटिश शासन के समय हमारे देश में एकात्मक शासन था जिसमें एक केन्द्र से शासन संचालित किया जाता था। जब कि हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं, इन भिन्नताओं के साथ इनकी समस्याएँ भी भिन्न प्रकृति की होती हैं, इसलिये इनका स्थानीय आधार पर बेहतर समाधान किया जा सकता है। शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के आधार संघात्मक शासन की स्थापना की गयी जो सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं को बनाए रखने के साथ ही उनकी समस्याओं के स्थानीय स्तर पर समाधान संभव हो सका।

2.2.3 प्रशासन की प्रकृति में परिवर्तन (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन)

जैसा कि यह सर्वविदित है कि भारतीय संविधान में उन लक्ष्यों और उद्देश्यों का स्पष्ट प्रावधान किया गया है, जिनकी सिद्धि के लिए प्रशासन को करना है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि स्वतंत्रता के पहले हमारे देश का प्रशासन नियामकीय प्रकृति का था, दूसरे शब्दों में प्रशासन के कार्य मुख्यतः नियामकीय थे, अर्थात् प्रशासन का मुख्य कार्य कानून और व्यवस्था बनाये रखना था, जिससे अंग्रेज शासन को अपने लक्ष्यों की सिद्धि में अनवरत सहूलियत बनी रहे।

परन्तु स्वतंत्रता के उपरान्त संविधान निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से उन लक्ष्यों का प्रावधान किया जिनको ध्यान में रखकर प्रशासन को संचालित किया जाना था। पहले प्रशासन जनता पर अपना दबाव बनाकर कार्य करता था, जनता के कोई मौलिक अधिकार नहीं थे, जनता का यह दायित्व था कि प्रशासन के निर्देशों का पालन करता रहे। किन्तु आजादी के बाद अब प्रशासन जनता के लिए काम करता है, क्योंकि जिसकी हम आप को ऊपर बता चुके हैं कि हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी, जिसमें सरकार जनता द्वारा निर्वाचित होती है और जनता के लिए काम करती है, इसलिए अब प्रशासन जनता के दबाव में काम करता है। संविधान के द्वारा मौलिक अधिकारों का प्रावधान किया गया। ये वे अधिकार हैं, जो राज्य और व्यक्तियों के विरुद्ध प्रदान किये गये हैं। अर्थात् इन अधिकारों के उल्लंघन होने पर चाहे वे व्यक्ति के द्वारा हों या राज्य के द्वारा हों, व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद- 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय और अनुच्छेद- 226 के तहत उच्च न्यायालय में जा सकता है।

इसी के साथ-साथ संविधान के भाग- 4 में नीति-निदेशक तत्वों का उपबन्ध भी करके राज्य को कुछ कल्याणकारी दायित्व भी सौंपे गये, जिनको लागू करने की जिम्मेदारी प्रशासन की है।

2.2.4 समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य

हमारे मूल संविधान में समाजवादी और 'पंथनिरपेक्ष' शब्द का समावेश नहीं किया गया था। 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा इनका समावेश संविधान किया गया। इन शब्दों के समावेश से प्रशासन के लक्ष्यों में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए इनके अर्थ को भी स्पष्ट करना आवश्यक है। समाजवाद का तात्पर्य है कि राज्य लोगों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने प्रयास करेगा। पंथनिरपेक्ष का अर्थ है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं होगा, इसका तात्पर्य यह भी है कि राज्य सभी धर्मों

के साथ सामान बर्ताव करेगा, किसी के साथ किसी भी प्रकार का पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं करेगा। यद्यपि इन शब्दों के संविधान में समावेश के पूर्व भी ऐसे लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उपबन्ध थे। इन उपबन्धों से प्रशासन की जिम्मेदारी में आमूलचूल परिवर्तन आया है।

2.3 भारतीय प्रशासन की विशेषताएँ

इस प्रकार से स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय प्रशासन के उद्देश्यों और लक्ष्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन के कारण भारतीय प्रशासन में निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं, जो इस प्रकार हैं-

2.3.1 गतिशील प्रशासन

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि आजादी के बाद प्रशासन के उद्देश्यों और लक्ष्यों में आमूलचूल परिवर्तन देखने को मिल रहा है। आज प्रशासन जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बन गया है। समय के बदलाव के साथ नित्य नई आवश्यकताएँ और समस्याएँ पैदा होती रहती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं के समाधान हेतु प्रशासन को निरन्तर तत्पर रहना होता है और बदलती परिस्थितियों के अनुरूप अपने ढालते रहना है, क्योंकि अब प्रशासन जनता के स्वामी के रूप में नहीं वरन सेवक के रूप में कार्य कर रहा है।

2.3.2 विकास प्रशासन

विकास प्रशासन एक परिवर्तनशील अवधारणा है जो निरन्तर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को लाने के लिए प्रयत्नशील है, साथ ही इन परिवर्तनों को सकारात्मक दिशा देने का भी कार्य कर रहा है। इसका सम्बन्ध योजना के निर्माण, इसके निर्माण हेतु आवश्यक पूर्वाश्रयताओं की पूर्ति से भी सम्बन्ध रखता है। विकास प्रशासन का सम्बन्ध नीतियों के कार्यान्वयन से है, इसलिए सरकार के जनकल्याणकारी और सशक्तिकरण सम्बन्धी नीतियों के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी भी इसी पर होती है।

2.3.3 उत्तरदायी प्रशासन

संसदीय शासन की एक प्रमुख विशेषता, उत्तर दायी शासन की स्थापना। चूँकि हमारे देश में संसदीय शासन में निम्न सदन(लोक सभा) के सदस्यों का चुनाव जनता के द्वारा, प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। मंत्री-परिषद का गठन संसद के सदस्यों में से ही किया जाता है। मंत्री-परिषद के सदस्य सम्बंधित

विभाग के अध्यक्ष (राजनीतिक प्रमुख) होते हैं। इसलिए अपने विभाग के कार्यों के लिए वे जनता के प्रति उत्तर दायी होते हैं।

2.3.4 नौकरशाही एवं लालफीताशाही

हमारे देश में नौकरशाही का एक विस्तृत ढाँचा विद्यमान है, जो नीति-निर्माण में सहयोगी भूमिका से लेकर, नीति के क्रियान्वयन तक के कार्यों में सक्रिय रहती है। परन्तु यह नौकरशाही अपने दायित्वों के निर्वहन में नियम-कानून और प्रक्रिया पर ज्यादा जोर देती दिखायी देती है, जिससे ये नियम-कानून और प्रक्रिया पर ज्यादा जोर देना ही साध्य के रूप में दिखायी देने लगता है, जिससे लालफीताशाही का दोष प्रशासन में उभरकर सामने आता है।

2.3.5 प्रशासन की तटस्थता

भारतीय प्रशासन की एक और महत्वपूर्ण विशेषता इसकी राजनीतिक तटस्थता। अर्थात् लोक सेवक अपने सार्वजनिक जीवन में राजनीतिक अभिव्यक्तियों अर्थात् राजनीतिक विचारों और व्यवहारों से सर्वथा दूर रखता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रशासनिक अधिकारी बिना किसी दलीय निष्ठा के पूर्वाग्रह से मुक्त होकर अपने दायित्वों का निर्वहन करता है। सरकार चाहे किसी भी दल की हो, उसका सम्बन्ध केवल नीतियों के निष्पक्ष क्रियान्वयन से होता है न कि दलीय भावना से। इस तरह के राजनीतिक तटस्थता के लिए लोक सेवकों हेतु भारतीय संविधान में उपबंध किये गये हैं।

2.3.6 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ

आजादी के बाद सामान्य रूप से प्रशासन में सामान्यज्ञों की नियुक्ति होती थी, किन्तु उसके बाद के समय में विभिन्न प्रकार की जरूरतों को पूरा करने के लिए विशेषज्ञों की भी नियुक्ति की जाने लगी। जैसे डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, कृषि वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, विधिवेत्ता आदि।

2.3.7 प्रशासन की बढ़ती हुई शक्तियाँ

स्वतन्त्रता के पूर्व प्रशासन की प्रकृति नियामकीय थी, जिसका प्रमुख लक्ष्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना था। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी, जिसमें सरकार जनता की भलाई के लिए कार्य करती है न कि अपने लाभ के लिए, जैसा कि अंग्रेज शासन काल में हुआ करता था। स्वतन्त्रता के पश्चात् संविधान निर्माताओं ने मूलभूत सामाजिक आर्थिक लक्ष्यों की घोषणा की है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नियोजन प्रक्रिया प्रारम्भ की गयी। इस कारण से प्रशासन की शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है। नित्य नवीन

कल्याणकारी योजनाएँ लागू की जा रही हैं, इनको लागू करने की जिम्मेदारी प्रशासन पर ही होती है। इसके साथ ही साथ अब तो सशक्तिकरण से सम्बंधित नीतियां भी लागू की जा रही हैं, जिससे समाज में अब तक हासिए पर रहे समुदायों को भी समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके। यदि इन सब बातों को हम संक्षेप में कहें तो यह है कि व्यक्ति के जन्म से पूर्व माँ के स्वास्थ्य, जन्मोपरान्त जन्म प्रमाण-पत्र, बच्चे के स्वास्थ्य, पोषण, नाना प्रकार के टीके, जनगणना, उसकी शिक्षा, रोजगार, विवाह पंजीकरण, बृद्धावस्था में उनके हित में विभिन्न प्रकार के सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम और अंततः मृत्यु पंजीकरण और इसी प्रकार से अन्य जो भी लोकहित में आवश्यक कार्य हों प्रशासन के द्वारा ही किये जाते हैं। लोकतंत्र में प्रशासन की बढ़ती जिम्मेदारियों ने उसकी शक्तियों में भी अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है।

2.3.8 प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक-आर्थिक न्याय

लंबे संघर्ष के पश्चात देश को आजादी मिली थी, जिसका उद्देश्य देशवासियों को उन सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से सुसज्जित करना था, जिनसे अभी तक वे वंचित रहे हैं, क्योंकि परम्परागत भारतीय समाज में कुछ सामाजिक और आर्थिक नियोग्यताएँ प्रचलित थीं। जैसे अश्वृश्यता(छुआ-छूत), व्यवसाय की नियोग्यताएँ आदि। हमारे संविधान में एक तरफ तो इन नियोग्यताओं को समाप्त किया गया तो दूसरी तरफ संविधान के द्वारा देशवासियों को विभिन्न प्रकार के सामाजिक और आर्थिक अधिकार प्रदान किये गये, जिससे वे सम्मान पूर्वक अपना जीवन यापन कर सकें। इस प्रकार के व्यापक उपबंध हमारे संविधान भाग-3 में मूलाधिकार और भाग-4 के नीति-निदेशक तत्वों में किये गये हैं।

2.3.9 समन्वित प्रशासन

हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताएँ हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए संविधान निर्माताओं ने संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया। जिसकी मुख्य विशेषता- लिखित, निर्मित और कठोर संविधान, संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच शक्तियों का विभाजन, संविधान की व्याख्या, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा और संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निराकरण करने के लिए स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायलय की स्थापना। इसके साथ ही साथ मजबूत केन्द्र की स्थापना के लिए एकात्मक शासन के मुख्य प्रावधानों को भी सम्मिलित किया गया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि देश, स्वतंत्रता के समय दुखद विभाजन को देख चुका था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए संघ और राज्य के लिए

सम्मिलित सेवाओं का प्रावधान किया गया, जिसे अखिल भारतीय सेवा कहते हैं। जिसमें तीन अखिल भारतीय सेवाएँ हैं, पहला- भारतीय प्रशासनिक सेवा, दूसरा- भारतीय पुलिस सेवा और तीसरा- भारतीय वन सेवा। इन सेवाओं का उद्देश्य केन्द्र और राज्य के बीच सहयोग को निरंतर प्रोत्साहित करना, जिससे राष्ट्र निर्माण का कार्य सफलता पूर्वक किया जा सके और कल्याणकारी और सशक्तिकारक नीतियों को भी सफलतापूर्वक लागू किया जा सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि केन्द्र सरकार के पास अपना कोई अलग प्रशासनिक तंत्र नहीं है, अपितु केन्द्र की नीतियों को भी सफलतापूर्वक लागू करने में राज्य के प्रशासनिक तंत्र से सहयोग लिया जाता है। भारतीय प्रशासन की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही साथ इसके कुछ अन्य पक्षों का भी अध्ययन करना आवश्यक होगा जो कि इनमें प्रायः दिखाई देता है-

- पिछले कुछ वर्षों में यह तथ्य उभरकर सामने आया है की प्रशासनिक अधिकारियों के अपने दायित्वों के निर्वहन में राजनीतिक हस्तक्षेप दिखाई दे रहा है, परिणामस्वरूप प्रशासकों में निराशा की भावना प्रबल होती दिखाई देती है। राजनीति में अपराधीकरण बहुत ही चिंता का विषय है। इसके निराकरण हेतु कोई संस्थागत उपाय और उन उपायों का समुचित क्रियान्वयन का प्रबंध करना उपयोगी होगा।
- कल्याणकारी योजनाओं, विकास कार्यों और सशक्तिकारक नीतियों के क्रियान्वयन में जनता की सक्रीय भागीदारी नहीं हो पाती है, जिसके फलस्वरूप नीतियों और कार्यक्रमों की सफलता संदिग्ध हो जाती है। इसका प्रमुख कारण प्रशासन के द्वारा जनता को साथ लेकर न चलने की प्रवृत्ति है। इस लिए आवश्यकता इस बात की है प्रशासन को जनता के प्रति संवेदनशील बनाया जाये और प्रशासकों के लिए भी नियत अंतराल पर नियमित प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित किये जाते रहें। साथ ही जिस क्षेत्र और जिस समुदाय विशेष के लिए नीति का निर्माण किया जाना है, उसकी भी नीति-निर्माण में भागीदारी सुनिश्चित करने के उपाय किये जाने चाहिए।
- देश को आजाद हुए छः दशक से अधिक हो चुके हैं, परन्तु आज भी समाज का ढाँचा सामंतवादी ही दिखाई देता है, फलस्वरूप बहुत से कार्यक्रमों का लाभ आम आदमी तक नहीं पहुँच पाता है। जिसकी चर्चा हमारे एक पूर्व प्रधानमंत्री कर चुके हैं, जिसमें उन्होंने यहाँ तक कहा कि गाँव के लिए भेजे गये एक रुपये में, मात्र 15 पैसे ही उन तक पहुँच पाता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इस तरह की

सुविधाएँ देश के आम आदमी तक पहुँचे। इसके लिए सामाजिक अंकेक्षण जैसे उपायों के साथ इस प्रकार के अन्य उपायों को भी अपनाने पर जोर दिया जाना चाहिए।

- वोहरा समिति(1955) ने अपने प्रतिवेदन में राजनीतिज्ञों, प्रशासकों और माफियाओं के बीच संबंधों को उजागर करके यह स्पष्ट कर दिया कि अधिकतर योजनाएं आम आदमी के नाम से संचालित तो हो रही हैं, परन्तु उनका वास्तविक लाभ लक्षित व्यक्ति और समूह तक नहीं पहुँच पा रहा है।

अभ्यास प्रश्न-

1. 15 अगस्त 1947 को हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सत्य/असत्य
2. संसद के निम्न सदन के जनप्रतिनिधि, जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आते हैं। सत्य/असत्य
3. शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के आधार संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है। सत्य/असत्य
4. मूल अधिकारों के उल्लंघन होने पर व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद- 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय और अनुच्छेद- 226 के तहत उच्च न्यायालय में जा सकता है। सत्य/असत्य
5. संविधान के भाग- 4 में नीति निर्देशक तत्वों का उपबंध किया गया है। सत्य/असत्य
6. 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखण्डता का समावेश संविधान में किया गया। सत्य/असत्य
7. संविधान के भाग- 3 में मूल अधिकारों का प्रावधान किया गया है। सत्य/असत्य

2.4 सारांश

इस इकाई में हमने स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तर दाई कारणों का अध्ययन किया जिसमें संसदीय लोकतंत्र, संघात्मक शासन, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन की बदलती प्रकृति (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन) का अध्ययन किया है। साथ ही यह भी अध्ययन किया कि किस प्रकार भारतीय संविधान, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है और अंततः हमने यह अध्ययन किया कि किस प्रकार भारतीय प्रशासन, गतिशील प्रशासन है, विकास प्रशासन है, उत्तर दायी प्रशासन है और राजनीतिक उथल-पुथल से अपने को अलग रखते हुए सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समन्वित रूप से कार्य कर रहा है। साथ ही यह भी देखा कि किस प्रकार से प्रशासन में लालफीताशाही के दुर्गुण

उभरे हैं, जिसमें सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया को इतना महत्व देते दिखाई देते हैं कि, लक्ष्य गौण हो जाते हैं। परन्तु बावजूद इसके स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन ने सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना के मार्ग पर चलने का अच्छा प्रयास किया है, किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालकर जन-आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

2.5 शब्दावली

संसद- भारत में कानून निर्माण की सर्वोच्च संस्था है जो राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है।

संघात्मक शासन- स्थानीय स्वायत्तता के साथ राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा को ध्यान में रखकर स्थापित की जाने वाली शासन व्यवस्था है।

समाजवादी- भारत के सन्दर्भ में इसका अर्थ यह है कि राज्य लोगों के बीच आर्थिक असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा।

पंथनिरपेक्ष- इसका अर्थ है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं होगा और वह सभी धर्मों को सामान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा।

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य, 4. सत्य, 5. सत्य, 6. सत्य, 7. सत्य

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
2. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहला।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय प्रशासन के विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
2. स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन की प्रकृति में परिवर्तन के कारणों को स्पष्ट कीजिये।

इकाई- 3 भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीति, आर्थिक और संवैधानिक पर्यावरण

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 भारतीय प्रशासन का पर्यावरण

3.2.1 भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक पर्यावरण

3.2.2 भारतीय प्रशासन सामाजिक पर्यावरण

3.2.3 भारतीय प्रशासन राजनीतिक पर्यावरण

3.2.4 भारतीय प्रशासन आर्थिक पर्यावरण

3.2.5 भारतीय प्रशासन संवैधानिक पर्यावरण

3.3 सारांश

3.4 शब्दावली

3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

पर्यावरण दो शब्द 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है। जिसका शब्दिक अर्थ है चारों ओर घिरा हुआ। समाजिक विज्ञान में पर्यावरण का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के जैविकीय एवं अजैविकीय संघटनों से भिन्न है। यद्यपि लोक प्रशासन में पर्यावरण या परिवेश अथवा परिस्थिति के अध्ययन का विचार वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। परन्तु तात्विक रूप से दोनों में भिन्नता है।

डॉ० एम०पी० शर्मा के अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था में पर्यावरण का अर्थ होता है संस्थान, इतिहास, विधि, आचारशास्त्र, दर्शन, धर्म, शिक्षा, परम्परा, विश्वास, मूल्य, प्रतीक, पौराणिक गाथाएँ आदि जिसमें भौतिक एवं अभौतिक नाचने-गाने तथा अन्य प्रकार के मनोरंजन और कलाएँ सम्मिलित हैं।

जबकि जीव विज्ञान में पर्यावरण से तात्पर्य सृष्टि के छोटे बड़े सभी जीवधारियों और प्रकृति के समस्त अजैविक तत्वों का समाहार है, जो जीवित प्राणियों के अस्तित्व जीवन ओर पुनरूत्पादन को प्रभावित करते हैं।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय प्रशासन में पर्यावरण का क्या तात्पर्य है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन सामाजिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन राजनीतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन आर्थिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन संवैधानिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

3.2 भारतीय प्रशासन का पर्यावरण

सन् 1961 में एफ०डी० रिम्स की पुस्तक 'द इकोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने इस क्षेत्र में तहलका मचा दिया। इस पुस्तक में लोक प्रशासन तथा पर्यावरण के बीच परस्पर क्रिया को तुलनात्मक ढंग से समझने का प्रयास किया गया था। रिम्स के अतिरिक्त जॉन एम० ग्रास, संवर टफल, रास्को पार्टिन आदि विद्वानों ने लोक प्रशासन में पर्यावरण के अध्ययन को व्यापक विस्तृत बनाया है। आज जब राज्य का स्वरूप प्रशासनिक हो गया है। किसी भी संस्थान या संगठन के विस्तृत विवेचन हेतु पर्यावरण का अध्ययन एवं विवेचन आवश्यक हो गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि लोक प्रशासन कई तत्वों से प्रभावित होता है जैसे सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश। लोक प्रशासन समाज विज्ञान के अन्तर्गत है। इसे समझने के लिए देश में चारों

ओर होने वाली घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है। अब लोक प्रशासन के विषय के अन्तर्गत यहाँ भारतीय प्रशासन के सन्दर्भ पर्यावरण की चर्चा करेंगे।

3.2.1 भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक पर्यावरण

संस्कृति शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृति अंग्रेजी भाषा के 'Culture' शब्द का रूपान्तरण है। कलचर शब्द लैटिन भाषा के कलचुरा तथा कोलियर शब्द से बना है जिसका अर्थ है उत्पादन और परिष्कार। अतः संस्कृति के अन्तर्गत समुदाय के रहन सहन, खानपान, जीवन शैली, बौद्धिक उपलब्धियों एवं जीवन दर्शन आते हैं। जी० ई० ग्लैडन ने अपनी पुस्तक 'डायनामिक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' में लोक प्रशासन और संस्कृति पर्यावरण के संबंधों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यदि प्रशासनिक संस्कृति, रूपान्तरण के कारण हुई प्रगति से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती है तो सामाजिक असंतोष और हिंसा से सामाजिक ढाँचा अंततः ध्वस्त हो जायेगा। सामाजिक संस्कृति की अनुकूल क्षमता ही प्रशासन में लोक सामंजस्य और व्यवस्था बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाती है।

भारतीय संस्कृति के विषय में एक चिर-परिचित और प्रिय उक्ति है। 'भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता का समावेश है'। भारतीय संस्कृति की धारा का मूल स्रोत वैदिक धर्म है। यही सनातन धर्म के नाम से विख्यात है। यह भी सत्य है कि वैदिक आर्य और उनकी संस्कृति अपनी पूर्ववर्ती सिन्धु संस्कृति से भी प्रभावित रही है। कालान्तर में विकसित हिन्दू संस्कृति में कई अवैदिक तत्वों का समावेश किया गया है। जैसे शिव महादेव की कल्पना। पीपल की पूजा, पशुओं की देव वाहन के रूप में कल्पना आदि। भारतीय संस्कृति की धारा में निरन्तरता प्रवाहता सदैव बनी रही। मध्यकाल में इस्लामिक संस्कृति आगमन व ईसाई संस्कृति इसे अवरूद्ध ना कर सकी, बल्कि इसकी अपनी अमरता ने परिष्कृत ही किया है। मध्यकाल के भक्ति आंदोलन और आधुनिक काल के नवजागरण इसके प्रमाण हैं। भारत अनेक जातियों, धर्मों और भाषाओं का जमघट है। भारत के राजनैतिक इतिहास में अनेक जातियों के प्रवेश किया है। उनकी न केवल भाषाओं बल्कि धर्म, विश्वास, परम्परा भिन्न रही है। 15 अगस्त 1947 के बाद में भारत अपनी अखण्डता अक्षुण्णता को अवश्य बनाये हुए है, परन्तु एक राष्ट्र राज्य के रूप में अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। इसकी सांस्कृतिक भिन्नताएँ इसमें अवरोध उत्पन्न करती है। प्रशासनिक सन्दर्भ में तो भिन्नताएँ बहुत अधिक पीड़ादायक सिद्ध हुई।

सहिष्णुता जहाँ एक नैतिक आदर्श प्रस्तुत करके सामाजिक जीवन को सरल, सुगम दर्शन प्रदान करते हैं, वहीं प्रशासनिक दृष्टिकोण से यही चीजें कठिनाईयाँ प्रस्तुत करती हैं। प्रशासन मानव जीवन को सुखमय और संघर्ष रहित बनाने के लिए होता है। परन्तु महज सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भिन्न समुदायों के लिए भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों का निर्माण करना और उनको क्रियान्वित करना थोड़ा कठिन होता है। यद्यपि प्रशासनिक श्रेष्ठता या हीनता का यह एक मात्र कारण नहीं है। यदि संस्कृति में कुछ और गुण विद्यमान हों तो यह दुर्गुण प्राकृतिक गुण में बदल सकता है। भारतीय प्रशासन के माध्यम से जब सामाजिक बुराईयों को दूर करने एवं प्रगतिशील व उन्नत कार्यक्रम चलाये जाते हैं, तो सांस्कृतिक परम्पराओं के कारण उसका विरोध किया जाता है। जब कभी कोई सामाजिक लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है, तो भारतीय समाज के विभिन्न वर्ग सिर्फ सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों के कारण उसका विरोध करते हैं। अतः लोकतांत्रिक पृष्ठभूमि के कारण प्रशासन अवसादग्रस्त हो जाता है। स्वतन्त्रता के पश्चात राष्ट्रीय भाषा का निधारण परिवार नियोजन के सम्बन्ध में कानून और अनुच्छेद-44 का क्रियान्वयन इसके उदाहरण है।

सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भारतीय समाज में सांस्कृतिक वैमनस्य को जन्म देता है। जिसके कारण पुलिस प्रशासन पर अत्यधिक दबाव रहता है। धर्म एवं जातिगत भिन्नता के कारण उनमें आपस में खानपान, वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाते। परन्तु जब कभी शिक्षित युवा लड़के-लड़कियाँ प्रेम सम्बन्धों या वैवाहिक सम्बन्धों के कारण एक-दूसरे के नजदीक आते हैं, तो जाति धर्म की भिन्नता उनके आड़े आती है। उत्तर भारत के कुछ राज्यों हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार में ऐसे सम्बन्धों का अभिभावक कड़ा विरोध करते हैं, जिनका परिणाम कभी-कभी 'ऑनर किलिंग' जैसे अपराधों में दृष्टिगत होता है।

भाषाई आधार पर प्रदेशों का निर्माण और प्रान्तों के बीच असहयोगपूर्ण बर्ताव सांस्कृतिक भिन्नता की पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्रान्तों का बँटवारा भौगोलिक एवं प्रशासनिक सुविधा पर होना अधिक श्रेष्ठ है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और प्रशासन के लिए एक दुःखद सत्य है कि प्रान्तों के नेता चाहे वे सत्ता में हों या विपक्ष में राष्ट्रीय आदर्शों के प्रेरणा नहीं होते। वे मन के अनुकूल अधिक क्षेत्रीय या प्रान्तीय विभाजन चाहते हैं।

भारतीय जीवन धर्म तत्व से अनुप्राणित रहा है। धर्म शब्द स्वजातिक है और इसका अनुवाद मजहब या रिलिजन नहीं हो सकता। यहाँ धर्म का अर्थ कर्तव्यों का पालन करना है। समग्र सृष्टि को अच्छी प्रकार से धारण एवं

परिपालन करने वाले तत्वों की समष्टि को ही धर्म कहते हैं। अर्थात् वे तत्व जिनके रहने से समाज है और जिनके न होने पर यह समाज नष्ट हो जाता है, धर्म के अन्तर्गत आते हैं। जैसे धैर्य, क्षमा, उदारता, संतोष, ईमानदारी, पवित्रता, ज्ञान, प्रेम, दया, अहिंसा, ममता, परोपकार, सहयोग तथा अपनी भांति दूसरों की चिन्ता करना आदि। श्रेष्ठ जीवन मूल्यों की समष्टि को ही भारतीय शास्त्रों में धर्म कहा गया है। इन तत्वों को धारण करने वाले व्यक्ति आध्यात्मिक शांति को प्राप्त कर समाज को व्यवस्थित एवं गतिमान बनाने में सहयोगी बनते हैं। चूँकि आज सत्ता धर्म के बिना सम्भव नहीं, अतः धर्म के तत्वों की रक्षा में सक्रिय होना समाज के प्रत्येक विचारशील नागरिक का पवित्र कर्तव्य बन जाता है। भारतीय जीवन में धर्म एक अग्रणी तत्व रहा। धर्म एकान्त में रहकर जीवन यापन करने वाले मनुष्यों का प्रेरक नहीं है। धर्म सामाजिक जीवन का सद्-गुण है। भारतीय राजनीतिक दर्शन में धर्म और राज्य में विरोधी संबंधों की कोई कल्पना नहीं की गयी है। आदर्श राज्य में धर्म आत्मा के सदृश्य राज्य रूपी शरीर में विद्यमान व्यक्ति का राजकीय जीवन, धार्मिक जीवन का पर्याय माना गया है। राम, कृष्ण, विदूर, भीष्म, मन, युधिष्ठिर, चाणक्य, गाँधी और अनगिनत राजर्षि इसके उदाहरण हैं। भारतीय नागरिकों में कोई हिन्दू हैं और वे लोग अधार्मिक हैं जो किसी पन्थ या सम्प्रदाय से नहीं जुड़े हैं। यह बात उतनी ही असत्य है, जितना की यह कहना कि सूर्य पृथ्वी का चक्कर लगाता है। भारतीय समाज यदि पूर्णतया धार्मिक होता तो इसके सामाजिक, राजनीतिक जीवन में इतनी बुराईयां ना होती। अधिकांश भारतीय धार्मिक होने का दावा करते हैं, परन्तु वे आचरण में धर्म की अभिव्यक्ति नहीं करते। आज की भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का जो ह्रास देखा जा रहा है उसके आधार पर राजनीतिक एवं प्रशासनिक जीवन के आदर्श का प्रतिनिधित्व भारतीय कर पायेंगे, इसमें संदेह है। यह सच है कि भारतीय समाज मानव जीवन के विभिन्न कृत्यों को ईश्वरीय छाया से निष्पादित मानते हैं, परन्तु वे व्यवहारिक जीवन में उसे स्वीकार नहीं करते।

धर्म को जीवन और आचरण में पूर्णता से उतार लेने के लिए और व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए भारत में विभिन्न दर्शनों, समुदायों का विकास हुआ है। भारत के ऐसे अनेक संप्रदाय हैं, जिनमें अद्वैत, वैष्णव, शाक्त, जैन, बौद्ध, सिख आदि प्रमुख हैं। इन विभिन्न सम्प्रदायों की उपासना पद्धतियों में भले ही भिन्नता हो परन्तु लक्ष्य सभी का परम सत्य और धर्म ही है। अर्थात् धर्म साध्य है, जबकि सम्प्रदाय साधन। भारतीय समाज सहिष्णुता के कारण अनेक उप-सम्प्रदायों को भी जन्म देता है। बौद्धों में महायान, हीनयान, जैन में श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि हैं। यद्यपि

ये भिन्नताएँ प्रशासनिक दृष्टिकाण से बहुत महत्व नहीं रखती। राजनीतिक और साम्प्रदायिक षड़यंत्रों के कारण देश का वातावरण बहुधा विषाक्त हो जाया करता है।

हिन्दू समाज की सहिष्णुता अनुपम है। भारतीय संस्कृति किसी दूसरे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करती है। हमारे इतिहास में ऐसे विभिन्न उदाहरण देखने को मिलते हैं, जिनमें हमारे मनुष्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सत्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं।

हमारे पूर्वजों का दृष्टिकोण सदैव अन्तर्राष्ट्रीय ही रहा है। मानव एक ही ईश्वर की संतान है। यह संकल्पना सदैव उपस्थित रही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श आज से चार हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का नारा था। हिन्दू संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को अपना कर अपनी ताकत बढ़ाई है। यहाँ तक की इस्लाम जो अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र रखने का मनसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में आकर बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। आज भारतीय मुसलमान सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय है।

3.2.2 भारतीय प्रशासन का सामाजिक पर्यावरण

एफ0डब्लू0 रिग्स ने अपनी पुस्तक 'इकॉलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' में कहा है कि किसी समुदाय का सामाजिक परिवेश उसके संस्थानों, संस्थागत नमूनों, जात सम्बन्धों, परम्पराओं, धर्म मूल्यों की व्यवस्था, विश्वास आदि पर आधारित होता है। ये समस्त तत्व प्रशासन पर बड़ा गहरा प्रभाव डालते हैं। लोक प्रशासन में मानवीय तत्व विशेष का प्रभाव होता है। इसलिए लोक प्रशासन का मानवीय तत्व समाज विशेष की ऊपज होता है। विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाएँ और संस्थाएँ लोक कर्मचारियों के चरित्र की रचना करती हैं। भारत में आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि आधारों पर अनेक वर्ग बन जाते हैं। समाज के इन वर्गों को पहचानना तथा उनमें जो वर्ग पिछड़ा और कमजोर है, उसे विशेष सुविधा देकर ऊपर उठाना, प्रशासन का महत्वपूर्ण दायित्व बन जाता है। प्रशासन को केवल कानूनी न्याय के आदर पर नहीं चलाया जा सकता। बल्कि प्रशासन के संचालन के लिए आज सामाजिक न्याय अधिक आवश्यक बन गया है। इसके साथ सामाजिक संस्थाओं का लोक प्रशासन की नौकरशाही से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। सामाजिक संस्थाओं का प्रशासन पर निरन्तर दबाव रहता है। इस सामाजिक दबाव के कारण लोक प्रशासन सतर्क एवं उत्तर दायी बना रहता है। दूसरी ओर सामाजिक जागरूकता भी प्रशासनिक व्यवहार को जनोपयोगी बनाने में सहायता करती है। इससे स्पष्ट है कि प्रशासन को सामाजिक पर्यावरण के अनुसार

संचालित होना पड़ता है। समाज प्रशासन के अनुसार कभी कभी ही क्रियाशील होता है। भारतीय समाज की विशेषता है कि वह बहुलवादी समाज है। जिसमें विविध सम्प्रदायों के अनुयायी भाषाभाषी एवं जाति, धर्म वाले लोग रहते हैं। भारत में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, जैन, बौद्ध, परसी आदि धर्माबलम्बी रहते हैं। भाषाओं की संख्या तो अनगिनत है, फिर भी संविधान की आठवीं सूची में 22 भाषाओं को रखा गया है। भारत में 74% हिन्दू, 22% मुस्लिम, 2.5% ईसाई और 2% सिख है। बहुसंख्यक हिन्दू के सामाजिक जीवन का आधार पुरातन काल से स्थापित वर्णाश्रम व्यवस्था है। यद्यपि वर्ण व्यवस्था अपनी पूर्व अवस्था में नहीं रह गयी, परन्तु अभी भी अघोषित रूप में समाजिक जीवन को इसी सिद्धान्त पर चिह्नित किया जाता है। वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात श्रम और व्यवसायिक वर्गों के विभाजन से हुआ था, जो कालान्तर में जन्म पर आधारित बन गया। वर्ण व्यवस्था का सबसे हानिकारक पक्ष है, पिछड़ी जातियों के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार। उच्च वर्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग की स्थिति सम्मानित और गौरवशाली हुआ करती थी। परन्तु सूद्र वर्ग समाज में गरीब और शोषित वर्ग हुआ करता था। स्वतंत्रता के पश्चात वर्ण-व्यवस्था को अवैध एवं गैर-कानूनी घोषित किया गया और योग्यता के आधार पर व्यवसायों के चयन को प्रमाणित माना गया। परन्तु भारत के कुछ राज्यों में भूमि पर उच्च वर्गों का एकाधिकार अभी भी स्थापित है। बिहार, पंजाब, राजस्थान, जैसे राज्यों में भू-आबंटन लागू ही नहीं हो पाया और कुछ राज्यों में लगभग ही क्रियान्वित हो सका। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में ठाकुर, राजपूत, जाट, गुर्जर भूमि पर अधिकार रखते हैं। बिहार में भूमिहार, ब्राह्मण, कायस्थ, कोयरी और राजस्थान में जाट और ब्राह्मण जबकि आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी, कम्मा और बेलगा भूमि पर अधिपत्य कायम किये हुए हैं।

भारत की राजनीति संरचना और प्रक्रियाएँ लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। पंचायती राज के तीनों स्तरों पर जो अलोकतांत्रिक एवं सामंती मानसिकता का प्रदर्शन होता है, वह इस समाज की अलोकतांत्रिक मानसिकता परिलक्षित होती है। यह भारतीय राजनीतिक जीवन की सच्चाई है। भारतीय राजनीति अपराधियों, कानून भंजकों और बेईमान लोगों का व्यापार बन गया। यहाँ पर भारतीय समाज के कुछ विशेष मुद्दों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

1. **जाति-** भारतीय समाज की संचार का आधार जाति और उपजातियाँ हैं। भारतीय प्रशासन सदियों पुरानी समाजिक विषमता को ठीक करने में व्यस्त है। अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों और पिछड़ी

जातियों के लिए शिक्षा एवं सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान भारतीय समाज की एकरूपता एवं समरसता प्रदान करने का विवादित प्रयास है। आरक्षण की व्यवस्था आर्थिक पीछड़ेपन पर आधारित न होकर जाति पर आधारित है। दूसरे मूल संविधान में इसे दस वर्षों तक जारी रखने का प्रावधान था, परन्तु संसद द्वारा इसे समय समय पर बढ़ाया जाता रहा। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण बहुत हद तक उचित है। परन्तु पीछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित है। राजनीतिक दल वोट बैंक के लिए पिछड़ी जातियों के आरक्षण का समर्थन करते हैं।

प्रशासनिक स्तर पर जाति भावना एक गंभीर समस्या है। समजात वर्ग के अधिकारी एवं कर्मचारी एक-दूसरे के लिए अवैध और अनुचित कार्यों को करने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु विजातीय लोगों के लिए उचित एवं वैध कार्यों के लिए टालमटोल करते हैं। जिस प्रकार से राजनीतिक स्तर पर जातियों को संगठित कर एक संगठित बोट बैंक के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है, लगभग उसी प्रकार राजनेताओं द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों का इस्तेमाल अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए किया जाता है। राज्यों के विधान सभा के उपचुनाव में इस जाति भावना का प्रशासन खुल कर प्रयोग होता है। आम जनमानस में प्रायः देखा और सुना जाता है कि समान जाति है तो ऐसे में अजीब आशा और विश्वास का संचार होता है। परन्तु जब वह विजातीय अधिकारी या कर्मचारी के पास जाते हैं, तो उनमें भय और शंका का समावेश होता है।

2. **भारतीय समाज का निम्न नैतिक स्तर-** राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में भारत के नेताओं ने नैतिक मूल्यों एवं आदर्श मानवीय गुणों का जो उद्-घाटन किया था विश्व स्तर पर भारत के ब्रिटिश आधिपत्य को असंगत प्रमाणित किया था। विश्व के अनेक विद्वानों ने कहा, भारत को सभ्य बनाने का अधिकार ब्रिटेन को नहीं है। भारतीय पुर्नजागरण और स्वतंत्रता के काल तक भारत के नैतिक मूल्यों, आदर्शों के कारण भारत एक आध्यात्मिक गुरु के रूप में उभर रहा था। परन्तु पिछले साठ वर्षों से भारतीय समाज का नैतिक पतन बड़ी तीव्र गति से हो रहा था। भारतीय समाज ने मानवीय बुराईयों को फैशन बना लिया है और समान्य जनता इन वर्गों की बुराईयों को अनुयायी बनकर अपनाती जा रही है। उच्च-वर्ग में भ्रष्टाचार, बेईमानी कत्तव्यहीनता, मिथ्या, दंभ, बड़े होने और सभ्य होने के प्रमाण माने जाते हैं। अर्थ का लाभ

भारतीय समाज को उसके आदर्शों से पदच्युत कर रहा है। राजनेता जितना बड़ा आर्थिक घोटाला करते हैं, उतना ही उनके राजनैतिक कद का प्रमाण माना जाता है। समाज में नैतिक मूल्यों का पतन इतनी गहराई तक पहुँच गया है कि लोग सामाजिक, प्रशासनिक बुराईयों को मौन स्वीकृति प्रदान कर देते हैं।

भारतीय प्रशासन, भारतीय समाज के नैतिक पजन का प्रतिबिम्ब भारत के 90 प्रतिशत अधिकारी और कर्मचारी भ्रष्ट और चरित्रहीन होते हैं। यह सच है कि उन्हें भ्रष्ट होने और रिश्वत खोर होने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों का इस्तेमाल प्रशासनिक-वर्ग और राजनीतिक-वर्ग द्वारा ही किया जाता है। भ्रष्टाचारमुक्त भारत सदगुणी व्यक्तियों के लिए अभी भी एक सपना है। प्रशासन के सभी विभागों में रिश्वत खोर, दलालों का जमघट होता है। पुलिस प्रशासन, स्वास्थ्य, शिक्षा, और राजस्व विभाग का निर्माण जैसे लोककल्याण के लिए नहीं बल्कि जनता के उत्पीड़न के लिए हुआ है।

3.2.3 भारतीय प्रशासन का आर्थिक पर्यावरण

‘अर्थ’ वह भौतिक तत्व जिस पर व्यक्ति के जीवन की गति निर्धारित होती है। राज्य की आर्थिक दशा और अर्थ के वितरण की व्यवस्था उसके सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक ढाँचे का स्वरूप तय करता है। प्रशासन के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ समय पहले राजनीतिक परिस्थितियों को ही अधिक महत्व दिया जाता था। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से आर्थिक विकास के अनुसार ही प्रशासन की सफलता एवं असफलता के अध्ययन को भी सम्मिलित किया जाने लगा है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक स्थिति का वहाँ के लोक प्रशासन के स्वरूप, संगठन और कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः सभी विकासशील देशों में तीव्र आर्थिक विकास एवं आधुनिकीकरण के लिए प्रशासनिक सुधारों को अनिवार्य समझा जाता है। आज आर्थिक विकास के लिए प्रशासनिक विकास की भी आवश्यकता है। प्रशासन को आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाता है और इसके लिए समय समय पर प्रशासनिक सुधार किये जाते हैं। किसी भी देश की योजना को लागू करने का दायित्व प्रशासन का होता है। अतः देश की प्रशासनिक प्रणाली वहाँ के आर्थिक जीवन को नियमित करती है। आज की प्रशासनिक व्यवस्था सिर्फ कानून और व्यवस्था के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि प्रशासन व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलु को अधिकाधिक खुशहाल बनाने के लिए लोक कल्याणकारी बन गया है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था अपनी विशाल जनसंख्या के भार से दबी हुई है। आर्थिक प्रगति के बावजूद गरीबी, भुखमरी, कुपोषित जीवन जीने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है। भारतीय राजनीतिक नेतृत्व व प्रशासन दोनों के लिए भारतीय समाज का समावेशी विकास एक दुसाध्य लक्ष्य बना हुआ है। लोक प्रशासन अनेक प्रकार से देश के जीवन को नियंत्रित करता है। जैसे एक बाजार व्यवस्था तभी सुचारू रूप से कार्य कर सकती है, जब उसके ऊपर विभिन्न प्रकार के नियंत्रण लगाये जाए तथा प्रशासन द्वारा अनेक सुविधाएँ उपलब्ध करायी जाये। प्रशासन ही वह यंत्र है, जो अल्प आर्थिक संसाधनों को अपने कौशल से अधिक उपयोगी और कल्याणकारी बना सकता है और यदि प्रशासन तंत्र भ्रष्ट और लुटेरा हो तो विश्व के समस्त संसाधनों से दरिद्रता नहीं दूर की जा सकती। प्रशासन में भ्रष्टाचार का मूल आधार आर्थिक है। यदि हम प्रशासन को पवित्र और भ्रष्टाचार रहित बनाना चाहते हैं, तो आर्थिक विषमताओं को दूर करना आवश्यक है। इसी प्रकार अकुशल प्रशासन निम्न आर्थिक स्तर का एक दुष्चक्र होता है। जब किसी राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होती है तो वहाँ योग्य तथा कुशल कर्मचारी उपलब्ध नहीं होते। फिर भी मैं कहूँगा कि भारतीय प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार न तो आर्थिक असमानता व दरिद्रता का परिणाम है और ना ही भारत की विकास योजनाओं की, बल्कि यह नैतिक और चारित्रिक समस्या है।

स्वाधीनता के बाद देश का औद्योगिकीकरण एक पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया। पूँजीवादी औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने कई तरह की बुराईयाँ उत्पन्न कर दी। उनसे अर्थव्यवस्था की पुराने ढाँचे को समाप्त कर दिया गया। किन्तु किसी नये ढाँचे का निर्माण नहीं किया गया। पूँजी अपने निवेश के लिए उन्हीं क्षेत्रों को चुनती है, जो उसे प्रारम्भिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं। चूँकि ये सुविधाएँ पहले से मौजूद शहरी क्षेत्रों में प्राप्त होती हैं। अतः नये उद्यम और व्यवसायिक प्रतिष्ठान समान्यतः शहरों तथा शहरों के उपनगरीय क्षेत्रों में शुरू किये जाते हैं। इससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई। जैसे- आर्थिक विषमता, असन्तुलित आर्थिक विकास आदि।

स्वाधीनता के बाद भारत ने विकसीत देशों से उधार ली गयी अत्यधिक पूँजी प्रदान टेक्नोलॉजी को अपनाया। भारी उद्योगों के निर्माण के लिए विदेशी सहायता लेनी पड़ी और देश की अर्थ व्यवस्था विदेशी निगमों के शिकंजे में फँसने लगी। आज देश की अर्थ व्यवस्था पर बड़े औद्योगिक घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। राजनीतिज्ञ, प्रशासक, सलाहकार संस्थान, सामान्य जन के कल्याण की उपेक्षा करके पूँजीपतियों

के हितों की पैरवी करते नजर आते हैं। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के आर्थिक पर्यावरण को निम्न विशेषताओं के सन्दर्भ में समझा जा सकता है-

1. **कृषि की प्रधानता-** भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता कृषि व्यवसाय की प्रधानता है। यहाँ की कुल कार्यशील जनसंख्या का 56% कृषि व्यवसाय में तथा 32% उद्योग व सेवाओं में लगा हुआ है।
2. **ग्रामीण अर्थव्यवस्था-** भारतीय अर्थव्यवस्था ग्रामीण है। यहाँ लगभग 72.2% जनसंख्या गावों में निवास करती है। यह प्रतिशत अन्य देशों की तुलना में बहुत ज्यादा है। उदाहरण के लिए अमेरिका में 24% जापान में 22% व आस्ट्रेलिया में 15% जनसंख्या गावों में निवास करती हैं।
3. **प्रतिव्यक्ति निम्न आय-** भारतीय अर्थव्यवस्था की एक विशेषता यह है कि यहाँ प्रति व्यक्ति आय बहुत निम्न है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो भारत की प्रति व्यक्ति आय जहाँ 460 डालर है, वहीं विश्व की औसत प्रति व्यक्ति आय 5159 डालर है। भारत में प्रति व्यक्ति आय कम होने से गरीबी व्याप्त है। लेकिन यह गरीबी आँकड़ों से भी और अधिक है। क्योंकि एक अनुमान के अनुसार 20% जनसंख्या को केवल एक ही समय भोजन मिल पाता है। वह 37.4% जनसंख्या को कम पौष्टिक भोजन मिलता है और वे कुपोषित जीवन जीते हैं।
4. **व्यापक बेरोजगारी-** भारत में व्यापक बेरोजगारी है और यह निरन्तर बढ़ रही है। वर्तमान में 8 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार है। इनमें से अधिकांश पाकेटमारी, चोरी, डकैती करते हैं। परन्तु सफेदपोश अपराधियों और सभ्य डाकुओं की अपेक्षा ये बेरोजगार चोर, पाकेटमारी, समाज का नुकसान कम ही करते हैं।
5. **परम्परावादी समाज-** भारतीय अर्थव्यवस्था का एक लक्षण यह है कि यहाँ का समाज रूढ़िवादी, भाग्यवादी और ढोंगी है। यही कारण है कि यहाँ बहुत सी कुुरीतियाँ हैं। जैसे मृत्युभोज व अनेक सामाजिक परम्पराएँ हैं, जिनमें काफी धन व्यय कर दिया जाता है। ऐसी परम्पराओं और रीति-रिवाजों के कारण यहाँ का समाज सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर पाता और अपने परिवार का जीवन स्तर नहीं उठा पाता।

भारत के आर्थिक परिवेश में प्रशासन के समक्ष अनेक चुनौतियाँ उपस्थित हो जाती हैं। पंचायती शासन के माध्यम से विकास योजनाओं का क्रियान्वयन आर्थिक संसाधनों के बंदरबांट का ज्वलंत उदाहरण है। प्रशासन को भारत की आर्थिक, सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजना और एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना है।

3.2.4 भारतीय प्रशासन का संवैधानिक पर्यावरण

किसी भी देश का प्रशासन संवैधानिक व्यवस्था के अनुरूप ही होता है। जहाँ संविधान का शासन है, वहाँ प्रशासन का स्रोत भी संविधान ही होता है। भारतीय प्रशासनिक संस्थाओं और उसकी कार्यप्रणाली का विस्तृत विवरण संविधान के अनुच्छेदों में विस्तार से है। इन संस्थाओं में निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग आदि संवैधानिक संस्थाएँ हैं। भारतीय संविधान की कुछ विशिष्ट विशेषताएँ प्रशासन की प्रकृति, रूपरेखा व कार्यप्रणाली आदि का निर्धारण करती हैं। जैसे- संसदीय शासन व्यवस्था प्रशासन में अनुचित राजनीतिक हस्तक्षेप की भूमिका तय करता है। दूसरी ओर मंत्रियों की अनभिज्ञता उन्हें प्रशासनिक कार्यों के प्रति उदासीन बनाती है और नौकरशाही का प्रभुत्व प्रशासन पर स्थापित हो जाता है। संविधान का लिखित होना प्रशासन के उद्देश्य एवं दिशा का निर्धारण करता है। नागरिकों के मौलिक अधिकार एवं राज्यों के नीति-निदेशक तत्व इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। संघात्मक शासन के कारण प्रशासन के दो स्तर- केन्द्रीय एवं प्रान्तीय होते हैं। इस परिस्थिति में दोनों स्तरों में पर्याप्त सहयोग एवं सामंजस्य की आवश्यकता होती है। कभी-कभी सुरक्षा सम्बन्धी मामलों में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासनिक संस्थाओं में अन्तरविरोध देखा जाता है। उदाहरणार्थ बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड में नक्सली समस्याओं के सम्बन्ध में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सुरक्षा एजेंसियों में सहयोग का अभाव दिखाता है।

संविधान में प्रशासकों के चयन प्रक्रिया को योग्यता पर आधारित और निष्पक्ष बनाने के लिए संघ लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग जैसी संस्थाओं का प्रावधान किया गया है। स्वतंत्र न्यायपालिका के द्वारा लोक सेवकों के पदच्युति को भी न्यायिक प्रक्रिया का विषय बना दिया गया है। जिससे लोक सेवक बिना किसी भय के निष्पक्ष होकर कार्य कर सकें। प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों के अवैध कार्यों के विरुद्ध मुकद्दमा चलाने का अधिकार पीड़ितों को दिया गया है।

निःसंदेह भारतीय संविधान में जनता के कल्याण और मानव सम्मान व अन्य प्रतिष्ठा को ध्यान में रखा गया है। परन्तु अभी तक कुछ गिने-चुने लोगों तक यह सीमित है। गरीबों और कमजोर लोगों के लिए 'अधिकार' 'न्याय' 'कानून' केवल शब्द मात्र हैं। स्वतंत्र न्यायिक व्यवस्था जनहित के मुकद्दमें, जनसूचना का अधिकार की उपलब्धता, न्याय एक दुर्लभ बस्तु बन गया है। उत्कृष्ट संविधान कानून और संस्थाओं के होते हुए भी समाज की

उन्नति नहीं हो पा रही है। स्वतंत्रता के समय भारत की जनता समझती थी कि आजादी मिलने पर भारत एक नये युग में प्रवेश करेगा। परन्तु 60-65 वर्षों के उपरान्त औद्योगिक, तकनीकी व आर्थिक प्रगति के बावजूद भारत की सामाजिक प्रगति और सामान्य जनता की स्थिति के सम्बन्ध में संशय है, जो देश अपने 60% जनसंख्या के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था ना कर सका उसके लिए आर्थिक प्रगति, औद्योगिक उन्नति जैसे शब्द बेईमानी लगती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. पर्यावरण किन दो शब्दों से मिलकर बना है?
2. 'द इकोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' के लेखक कौन हैं?
3. 'डायनामिक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' के लेखक कौन हैं?
4. भारत की लगभग कितने प्रतिशत जनसंख्या गावों में निवास करती है?

3.3 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से आप समझ सके होंगे कि किस प्रकार देश का प्रशासन देश के संवैधानिक पर्यावरण की सीमाओं में रहकर ही कार्य करता है। भारतीय प्रशासन और संवैधानिक पर्यावरण को समझने के लिए भारतीय संविधान की विशेषताएँ निर्मित, लिखित, लोकप्रिय सम्प्रभुता, लोककल्याण कार्य, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष राज्य, संसदीय व्यवस्था, स्वतंत्र न्यायपालिका, मूल अधिकारों की व्यवस्था, आदि को समझना आवश्यक है। साथ ही अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि देश विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, संवैधानिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रशासन को न केवल प्रभावित करती हैं, अपितु कार्यप्रणाली एवं ढाँचे को नया रूप प्रदान करती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रशासन और पर्यावरण में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

3.4 शब्दावली

पर्यावरण- पर्यावरण दो शब्द 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है। जिसका शब्दिक अर्थ है 'चारों ओर घिरा हुआ।' समाजिक विज्ञान में पर्यावरण का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के जैविकीय एवं अजैविकीय संघटनों से भिन्न

है। यद्यपि लोक प्रशासन में पर्यावरण या परिवेश अथवा परिस्थिति के अध्ययन का विचार वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। परन्तु तात्त्विक रूप से दोनों में भिन्नता है।

संस्कृति- संस्कृति के अन्तर्गत समुदाय के रहन-सहन, खानपान, जीवन शैली, बौद्धिक उपलब्धियों एवं जीवन दर्शन आते हैं।

3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 'परि' और 'आवरण', 2. एफ0डी0 रिम्स, 3. जी0 ई0 ग्लैडन, 4. 72.2%

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

3.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय प्रशासन के पर्यावरण पर निबंध लिखिये।
2. स्वतन्त्रता के बाद भारतीय प्रशासन के पर्यावरण में किस प्रकार का परिवर्तन आया है? स्पष्ट कीजिये।

इकाई- 4 भारतीय संविधान की विशेषताएं

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 भारतीय संविधान की प्रस्तावना

4.3 भारतीय संविधान की विशेषताएं

4.4 विभिन्न स्रोतों से लिए गये उपबंध

4.5 लोक कल्याणकारी राज्य

4.6 सारांश

4.7 शब्दावली

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

इकाई एक में हमने भारतीय संविधान के निर्माण में विदेशी संविधान के प्रभावों का अध्ययन किया साथ ही भारतीय संविधान के महत्वपूर्ण पक्षों का भी अध्ययन किया है।

इस इकाई में भारतीय संविधान की विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन किया जायेगा। जिससे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को समझने में और सुविधा हो सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय संविधान में विश्व के संविधानों के उन्हीं पक्षों को शामिल किया गया है, जो हमारे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप है। चाहे वह संसदीय शासन हो चाहे संघात्मक शासन हो या एकात्मक शासन हो। भारत ने ब्रिटेन के संसदीय शासन को अपनाया गया, किन्तु उसके एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय संविधान इतना विस्तृत क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- भारतीय संविधान में संसदीय तत्व क्यों अपनाये गये, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- भारतीय संविधान में संघात्मक उपबन्ध क्यों किये गये, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- संसदीय शासन के बाद भी संविधान की सर्वोच्चता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

4.2 भारतीय संविधान की प्रस्तावना

प्रत्येक देश का संविधान उसके देश-काल की आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार किया जाता है। चूंकि प्रत्येक देश की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए संविधान निर्माण के समय उन सभी पक्षों को शामिल किया जाता है। इस भिन्नता के कारण यह संभव है कि किसी देश में कोई व्यवस्था सफल हो तो वह अन्य देश में उसी स्वरूप में न सफल हो या उसे उसी रूप में लागू न किया जा सके। यदि हम देखें तो हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण के समय विश्व के प्रचलित संविधानों का अध्ययन किया और उन संविधानों के महत्वपूर्ण प्रावधानों को अपने देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप ढालकर अपनाने पर जोर दिया है। जैसे- हमारे देश में ब्रिटेन के संसदीय शासन का अनुसरण किया गया है किन्तु उसके एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया है बल्कि संसदीय के साथ संघात्मक शासन को अपनाया गया है। यहाँ यह स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक है कि संसदीय के साथ एकात्मक शासन न अपनाकर संघात्मक शासन क्यों अपनाया गया है? चूंकि हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बहुलता पायी जाती है, इसलिए इनकी पहचान को बनाए रखने के लिए संघात्मक शासन की स्थापना को महत्व प्रदान किया गया। परन्तु संघात्मक शासन में पृथक पहचान, पृथकतावाद को बढ़ावा न दे, इसके लिए एकात्मक शासन के लक्षणों का भी समावेश किया गया है, जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा न उत्पन्न हो, क्योंकि आजादी के समय हमारा देश विभाजन के दुःखद अनुभव को झेल चुका था।

यहाँ हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अन्य देशों के संविधान की भांति हमारे देश के संविधान का प्रारम्भ भी प्रस्तावना से हुआ है। प्रस्तावना को प्रारम्भ में इसलिए रखा गया है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि इस संविधान के निर्माण का उद्देश्य क्या था? साथ ही वैधानिक रूप से संविधान के किसी भाग की वैधानिक व्याख्या को लेकर यदि स्पष्टता नहीं है, तो प्रस्तावना मार्गदर्शक का कार्य करती है। संविधान की प्रस्तावना के महत्व को देखते हुए सर्वप्रथम प्रस्तावना का अध्ययन करना आवश्यक है-

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूल संविधान में 'समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखण्डता' शब्द नहीं था। इसका भारतीय संविधान में समावेश 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा किया गया है।

अब हम प्रस्तावना में प्रयोग में लाये गये महत्वपूर्ण शब्दों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे-

1. **हम भारत के लोग-** इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय संविधान का निर्माण किसी विदेशी सत्ता के द्वारा नहीं किया गया है, बस भारतीयों ने किया है। प्रभुत्व शक्ति का स्रोत स्वयं जनता है और अन्तिम सत्ता का निवास जनता में है।
2. **सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न-** इसका तात्पर्य परम सत्ता या सर्वोच्च सत्ता से है, जो निश्चित भू-क्षेत्र अर्थात् भारत पर लागू होती है। वह परम सत्ता किसी राजे-महाराजे या विदेशी के पास न होकर स्वयं भारतीय जनता के पास है और भारतीय शासन अपने आंतरिक प्रशासन के संचालन और परराष्ट्र संबंधों के संचालन में पूरी स्वतंत्रता का उपयोग करेगा। यद्यपि भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य है, परन्तु इससे उसके सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
3. **पंथ निरपेक्ष-** यह शब्द मूल संविधान में नहीं था, वरन् इसका समावेश संविधान में 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा किया गया है। इसका तात्पर्य है कि- राज्य किसी धर्म विशेष को 'राजधर्म' के रूप में संरक्षण नहीं प्रदान करेगा, वरन् वह सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करेगा और उन्हें समान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा।
4. **गणराज्य-** इसका तात्पर्य है कि भारतीय संघ का प्रधान, कोई वंशानुगत राजा या सम्राट ना होकर के निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। ब्रिटेन ने वंशानुगत राजा होता है, जबकि अमेरिका में निर्वाचित राष्ट्रपति है। इसलिए भारत, अमेरिका के समान गणराज्य है।

5. **न्याय-** हमारा संविधान नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की गारंटी देता है। न्याय का तात्पर्य है कि राज्य का उद्देश्य सर्वजन का कल्याण और सशक्तिकरण है, न कि विशेष लोगों का। सामाजिक न्याय का तात्पर्य है कि अब तक हासिये पर रहे वंचित समुदायों को भी समाज की मुख्यधारा में लाने वाले प्रावधान किये जायें तथा उनका क्रियान्वयन भी सुनिश्चित किया जाए। आर्थिक न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी न्यूनतम आवश्यकता को वस्तुओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने का अवसर प्रदान किये जाए। राजनीतिक न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान का भेदभाव किये बिना उसे अपना प्रतिनिधि चुनने और स्वयं को प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार होना चाहिए।
6. **एकता और अखण्डता-** मूल संविधान में एकता शब्द ही था। पर 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा अखण्डता शब्द का समावेश किया गया। जिसका तात्पर्य यह है कि धर्म, भाषा, क्षेत्र, प्रान्त, जाति आदि की विभिन्नता के साथ एकता के आदर्श को अपनाया गया है। इसके साथ अखण्डता शब्द को जोड़कर 'अखण्ड एकता' को साकार करने का प्रयास किया गया है। इसके समर्थन में भारतीय संविधान में 16वाँ संवैधानिक संशोधन भी किया गया है।

4.3 भारतीय संविधान की विशेषताएँ

भारतीय संविधान की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान-** संविधान के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है, प्रभुसत्ता अर्थात् सर्वोच्च सत्ता का स्रोत जनता है। प्रभुसत्ता का निवास जनता में है। इसको संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है कि 'हम भारत के लोग।'
2. **विश्व में सर्वाधिक विस्तृत संविधान-** हमारा संविधान विश्व में सबसे बड़ा संविधान है। जिसमें 22 भाग, 395 अनुच्छेद और 12 अनुसूचियाँ हैं। जबकि अमेरिका के संविधान में 7 अनुच्छेद, कनाडा के संविधान में 147 अनुच्छेद हैं। भारतीय संविधान के इतना विस्तृत होने के कई कारण हैं। जो निम्नलिखित हैं-

- हमारे संविधान में संघ के प्रावधानों के साथ-साथ राज्य के शासन से सम्बन्धित प्रावधानों को भी शामिल किया है। राज्यों का कोई पृथक संविधान नहीं है केवल जम्मू-कश्मीर को छोड़कर। जबकि अमेरिका में संघ और राज्य का पृथक संविधान है।
 - जातीय, सांस्कृतिक, भौगोलिक व सामाजिक विविधता भी संविधान के विशाल आकार का कारण बना, क्योंकि इसमें अनुसूचित जातियों, जनजातियों, आगल भारतीय, अल्पसंख्यक आदि के लिए पृथक रूप से प्रावधान किये गये हैं।
 - नागरिकों के मूल अधिकारों का विस्तृत उल्लेख करने के साथ ही साथ नीति-निदेशक तत्वों और बाद में मूल-कर्तव्यों का समावेश किया जाना भी संविधान के विस्तृत होने का आधार प्रदान किया है।
 - नवजात लोकतन्त्र के सुचारू रूप से संचालन के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रशासनिक एजेन्सियों से सम्बन्धित प्रावधान भी किये गये हैं। जैसे- निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग, भाषा आयोग, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, महिला आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति आयोग, अनुसूचित जनजाति आयोग आदि। संघात्मक शासन का प्रावधान करने के कारण केन्द्र राज्य सम्बन्धों का विस्तृत उपबन्ध संविधान में किया गया है।
3. **सम्पूर्ण प्रमुख सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य-** जैसा कि हम ऊपर प्रस्तावना में स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्तिम सत्ता जनता में निहित है। भारत अब किसी के अधीन नहीं है। वह अपने आन्तरिक और बाह्य मामले पूरी तरह से स्वतन्त्र है। संघ का प्रधान कोई वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित राष्ट्रपति है, न कि ब्रिटेन की तरह सम्राट।
4. **पंथ निरपेक्ष-** भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक पंथ-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। यद्यपि इस शब्द का समावेश संविधान में 42वें संविधान संशोधन 1976 के द्वारा किया है, किन्तु इससे सम्बन्धित प्रावधान संविधान के विभिन्न भागों में पहले से विद्यमान है। जैसे- मूल अधिकार में और इसी

प्रकार कुछ अन्य भागों में भी। पंथनिरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं है। सभी धर्मों के साथ वह समान व्यवहार करेगा और समान संरक्षण प्रदान करेगा।

5. **समाजवादी राज्य-** इस शब्द को निश्चित रूप से परिभाषित करना आसान कार्य नहीं है, परन्तु भारतीय सन्दर्भ में इसका तात्पर्य है कि राज्य विभिन्न समुदायों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा।

6. **कठोरता और लचीलेपन का समन्वय-** संविधान में संशोधन प्रणाली के आधार पर दो प्रकार के संविधान होते हैं। पहला- कठोर संविधान, दूसरा- लचीला संविधान। कठोर संविधान वह संविधान होता है, जिसमें संशोधन कानून निर्माण की सामान्य प्रक्रिया से नहीं किया जा सकता है। इसके लिए विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जैसा कि अमेरिका के संविधान में है। अमेरिका के संविधान में संशोधन तभी सम्भव है जब कांग्रेस के दोनों सदन(सीनेट, प्रतिनिध सभा) दो तिहाई बहुमत से संशोधन प्रस्ताव पारित करें और उसे अमेरिकी संघ के 50 राज्यों में से कम से कम तीन चौथाई राज्य उसका समर्थन करें। अर्थात् न्यूनतम राज्य।

लचीला संविधान वह संविधान है, जिसमें सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से संशोधन किया जा सके। जैसे ब्रिटेन का संविधान। क्योंकि ब्रिटिश संसद साधारण बहुमत से ही यातायात कर लगा सकती तो वह साधारण बहुमत से ही क्राउन की शक्तियों को कम कर सकती है।

किन्तु भारतीय संविधान न तो अमेरिका के संविधान के समान कठोर है और न ही ब्रिटेन के संविधान के समान लचीला है। भारतीय संविधान में संशोधन तीन प्रकार से किया जा सकता है-

- पहला- कुछ अनुच्छेदों में साधारण बहुमत से संशोधन किया जा सकता है।
- दूसरा- संविधान के ज्यादातर अनुच्छेदों में संशोधन दोनों सदनों के अलग-अलग बहुमत से पारित करके साथ ही यह बहुमत उपस्थित सदस्यों का दो तिहाई है।
- तीसरा- भारतीय संविधान में कुछ अनुच्छेद, जो संघात्मक शासन प्रणाली से सम्बन्धित हैं, उपरोक्त क्रम दो के साथ (दूसरे तरीका) कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डलों के द्वारा स्वीकृति देना भी आवश्यक है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान कठोरता और लचीलेपन का मिश्रण होने का उदाहरण पेश करता है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा था कि- 'हम संविधान को इतना ठोस और स्थायी बनाना चाहते हैं, जितना हम बना सकें। परन्तु सच तो यह है कि संविधान तो स्थायी होते ही नहीं हैं। इनमें लचीलापन होना चाहिए। यदि आप सब कुछ कठोर और स्थायी बना दें तो आप राष्ट्र के विकास को तथा जीवित और चेतन लोगों के विकास को रोकते हैं। हम संविधान को इतना कठोर नहीं बना सकते कि वह बदलती हुई दशाओं के साथ न चल सके।

7. संसदीय शासन प्रणाली- हमारे संविधान के द्वारा ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह संसदीय प्रणाली को न केवल संघ में वरन राज्यों में भी अपनाया गया है।

इस प्रणाली की कुछ विशेषताएँ हैं-

- नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद- नाममात्र की कार्यपालिका, संघ में राष्ट्रपति और राज्य में राज्यपाल होता है जबकि वास्तविक कार्यपालिका, संघ और राज्य दोनों में मंत्री-परिषद होती है।
- राष्ट्रपति (संघ में) राज्यपाल (राज्य में) केवल संवैधानिक प्रधान होते हैं।
- मंत्री-परिषद (संघ में) लोक सभा के बहुमत के समर्थन पर ही अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करती है। राज्य में मंत्री-परिषद अपने अस्तित्व के लिए विधान सभा के बहुमत के समर्थन पर निर्भर करती है। लोक सभा और विधान सभा दोनों निम्न सदन हैं, जनप्रतिनिधि सदन है। इनका निर्वाचन जनता प्रत्यक्षरूप से करती है।
- कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि कार्यपालिका का गठन व्यवस्था के सदस्यों में से ही किया जाता है।

8. **एकात्मक लक्षणों के साथ संघात्मक शासन-** यद्यपि भारत में ब्रिटेन के संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। किन्तु उसके साथ वहाँ के एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया है। क्योंकि भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक बहुलता पायी जाती है। इस लिए इनकी अपनी सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक अस्मिता की रक्षा के लिए संघात्मक शासन प्रणाली अपनाया गया है। लेकिन संघात्मक शासन के साथ राष्ट्र की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए एकात्मक तत्वों का भी समावेश किया गया है। इस क्रम में हम पहले भारतीय संविधान में संघात्मक शासन के लक्षणों को जानने का प्रयास करेंगे। जो निम्नलिखित हैं-

- लिखित निर्मित और कठोर संविधान।
- केन्द्र(संघ) और राज्य की शक्तियों का विभाजन (संविधान द्वारा)।
- स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायालय जो संविधान के रक्षक के रूप में कार्य करेगी। संविधान के विधिक पक्ष में कही अस्पष्टता होगी तो उसकी व्याख्या करेगी। साथ ही साथ नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करेगी।

किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारतीय संघ हेतु, कनाडा के संघ का अनुसरण करते हुए संघीय सरकार (केन्द्र सरकार) को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। भारतीय संविधान के द्वारा यद्यपि संघात्मक शासन तो अपनाया गया है, किन्तु उसके साथ मजबूत केन्द्र की स्थापना हेतु, निम्नलिखित एकात्मक तत्वों का भी समावेश किया गया है-

- केन्द्र और राज्य में शक्ति विभाजन केन्द्र के पक्ष में हैं, क्योंकि तीन सूचियों (संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची) के माध्यम से शक्ति विभाजन किया गया है। संघ सूची में संघ सरकार को, राज्य सूची पर राज्य सरकार को और समवर्ती सूची पर संघ और राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार होता है, किन्तु दोनों के कानूनों में विवाद होने पर संघीय संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होता है। इन तीनों सूचियों के अतिरिक्त जो अवशिष्ट विषय हों, अर्थात् जिनका उल्लेख इन सूचियों में न हो उन पर कानून बनाने का अधिकार भी केन्द्र सरकार का होता है।

- इसके अतिरिक्त राज्य सूची के विषयों पर भी संघीय संसद को कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसे- संकट की घोषणा होने पर दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा प्रस्ताव द्वारा निवेदन करने पर, राज्य सभा द्वारा पारित संकल्प के आधार पर।
- इकहरी नागरिकता- संघात्मक शासन में दोहरी नागरिकता होती है एक तो उस राज्य की जिसमें वह निवास करता है दूसरी संघ की। जैसा कि अमेरिका में है। जबकि भारत में इकहरी नागरिकता है, अर्थात् कोई व्यक्ति केवल भारत का नागरिक होता है।
- एकीकृत न्यायपालिका- एक संविधान, अखिल भारतीय सेवाएं, आपातकालीन उपबन्ध, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय संविधान संघात्मक शासन है, जिसमें संकटकालीन स्थितियों से निपटने हेतु कुछ एकात्मक लक्षण भी पाये जाते हैं।

4.4 विभिन्न स्रोतों से लिए गये उपबंध

जैसा कि हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण की प्रक्रिया में दुनियाँ में तत्कालीन समय में प्रचलित कई संविधानों का अध्ययन किया और उसमें से महत्वपूर्ण पक्षों को जो हमारे देश में उपयोगी हो सकते थे, उन्हें अपने देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप ढालकर संविधान में उपबन्धित किया।

वे स्रोत निम्नलिखित हैं, जिनका प्रभाव भारतीय संविधान पर पड़ा-

स्रोत	विषय
भारतीय शासन अधिनियम 1935	तीनों सूचियाँ, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ
ब्रिटिश संविधान	संसदीय शासन
अमरीकी संविधान	प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, सर्वोच्च न्यायालय, उपराष्ट्रपति का पद, संविधान में संशोधन प्रक्रिया
आयरलैंड का संविधान	नीति-निदेशक तत्व, राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल

कनाडा का संविधान	संघात्मक शासन(अवशिष्ट शक्तियाँ, केन्द्र के पास हैं)
आस्ट्रेलिया का संविधान	समवर्ती सूची
दक्षिण अफ्रीका का संविधान	संविधान में संशोधन की प्रक्रिया
पूर्व सोवियत संघ	मूल कर्तव्य

4.5 लोक कल्याणकारी राज्य

लंबे संघर्ष के पश्चात देश को आजादी मिली थी। जिसमें संसदीय लोकतन्त्र को लागू किया गया है। संसदीय लोकतन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता में निहित होती है। इसलिए भारतीय संविधान के द्वारा ही भारत को कल्याणकारी राज्य के रूप में स्थापित करने का प्रावधान भारतीय संविधान के विभिन्न भागों में किए गये, विशेष रूप से भाग- 4 के नीति निर्देशक तत्व में, मौलिक अधिकारों में, अनुच्छेद- 17 के द्वारा अस्पृश्यता के समाप्ति की घोषणा के साथ इसे दण्डनीय अपराध माना गया है। प्रस्तावना में सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना का लक्ष्य घोषित किया गया। मौलिक अधिकार के अध्याय में किसी भी नागरिक के साथ धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान के आधार पर विभेद का निषेध किया गया। साथ ही अब तक समाज की मुख्यधारा से कटे हुए वंचित समुदायों के लिए विशेष प्रावधान किए गये, जिससे वे भी समाज की मुख्यधारा से जुड़कर राष्ट्र के विकास में अपना अमूल्य योगदान दे सकें।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में ब्रिटेन के संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। सत्य/असत्य
2. संसदीय शासन प्रणाली की विशेषता है, नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद। सत्य/असत्य
3. लचीला संविधान वह संविधान है, जिसमें सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से संशोधन किया जा सके। सत्य/असत्य
4. भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक पंथ निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। सत्य/असत्य
5. पंथ निरपेक्ष शब्द का समावेश संविधान में 42वें संशोधन 1976 के द्वारा किया है। सत्य/असत्य

4.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप को यह जानने में समर्थ हो पाये कि भारतीय संविधान की क्या विशेषताएँ हैं। जिसमें यह भी जानने का अवसर प्राप्त हुआ कि किन कारणों से यह संविधान इतना विस्तृत हुआ है, क्योंकि हमारा नवजात लोकतंत्र की रक्षा और इसके विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि संभावित सभी विषयों का स्पष्ट रूप से समावेश कर दिया जाए। जैसे मूल अधिकार और नीति-निदेशक तत्वों को मिलाकर संविधान एक बड़ा भाग हो जाता है इसी प्रकार से अनुसूचित जातियों और जनजातियों से सम्बंधित उपबंध संघात्मक शासन अपनाने के कारण केन्द्र-राज्य सम्बन्ध और संविधान के संरक्षण, उसकी व्याख्या और मौलिक अधिकारों के रक्षक के रूप में स्वतंत्र निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का प्रावधान किया गया है। जिसकी वजह से संविधान विस्तृत हुआ है। इसके साथ-साथ विभिन्न संवैधानिक आयोगों की स्थापना जैसे निर्वाचन आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति आयोग, अनुसूचित जनजाति आयोग, राजभाषा आयोग आदि कारणों से संविधान विस्तृत हुआ। इसके साथ ही साथ हमने इस तथ्य का भी अध्ययन किया कि संविधान निर्माण में संविधान निर्माता किन देशों में प्रचलित किस पक्ष को अपने देश की आवश्यकताओं के अनुरूप पाये, जिस कारण से उन्होंने भारतीय संविधान में शामिल किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें संसदीय और अध्यक्षीय शासन के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त हुई।

4.7 शब्दावली

लोक प्रभुसत्ता- जहाँ सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित हो, वहाँ लोक प्रभुसत्ता होती है।

धर्म निरपेक्षता- राज्य का कोई धर्म न होना और राज्य के द्वारा सभी धर्मों के प्रति समभाव का होना।

समाजवादी राज्य(भारतीय संदर्भ में)- जहाँ राज्य के द्वारा आर्थिक असमानताओं को कम करने का प्रयत्न किया जाये।

संघीय व्यवस्था- केन्द्र और राज्य दोनों संविधान के द्वारा शक्ति विभाजन अपने-अपने क्षेत्र में दोनों संविधान की सीमा में स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करें।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य, 4. सत्य, 5. सत्य

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ० रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय संविधान- दुर्गादास बसु।

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
2. आप इस बात से कहाँ तक सहमत हैं कि भारतीय संविधान एकात्मक लक्षणों वाले संघात्मक शासन की स्थापना करता है?

इकाई- 5 राष्ट्रपति

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 राष्ट्रपति

5.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन

5.3.1 योग्यता

5.3.2 निर्वाचन

5.3.3 राष्ट्रपति द्वारा शपथ

5.3.4 राष्ट्रपति की पदावधि

5.3.5 उन्मुक्तियाँ

5.3.6 वेतन

5.3.7 महाभियोग की प्रक्रिया

5.4 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

5.4.1 कार्यपालिका शक्तियाँ

5.4.2 विधायी शक्तियाँ

5.4.3 राजनयिक शक्तियाँ

5.4.4 सैनिक शक्तियाँ

5.4.5 न्यायिक शक्तियाँ

5.4.6 आपात कालीन शक्तियाँ

5.5 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाइयों के अध्ययन से आप को भारतीय प्रशासन के विभिन्न पक्षों के बारे में जानने में सहायता मिली है। प्रस्तुत इकाई में हम भारत में संघ के कार्यपालिका के प्रमुख, राष्ट्रपति के बारे में जान सकेंगे। इसके अध्ययन से हम राष्ट्रपति के निर्वाचन, उनकी शक्तियों और उनकी संवैधानिक स्थिति तथा वास्तविक स्थिति के बारे में भी जान सकेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से हमें आगे की इकाइयों में प्रधानमन्त्री सहित मंत्री-परिषद के वास्तविक कार्यपालिका प्रधान के रूप में समझने में सहायता मिलेगी। साथ ही संसदीय शासन की परम्परा में राष्ट्रपति पद के महत्व को और भी स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलेगी।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया के बारे में जान सकेंगे।
- राष्ट्रपति की शक्तियों को जान सकेंगे।
- यह जान सकेंगे कि वह कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान ही नहीं है।

5.2 राष्ट्रपति

शासन के तीन अंग होते हैं, जो क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका हैं। व्यवस्थापिका का सम्बन्ध कानून निर्माण से है, कार्यपालिका का सम्बन्ध व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों और नीतियों के क्रियान्वयन से है, जबकि न्यायपालिका का सम्बन्ध न्यायिक कार्यों से है।

संघ की कार्यपालिका के शीर्ष पर राष्ट्रपति होता है। चूँकि राष्ट्रपति संवैधानिक प्रधान है (नाममात्र की कार्यपालिका) फिर भी उनके पद को सत्ता और गरिमा से युक्त किया गया है। वह राज्य के शक्तिशाली शासक हाने की अपेक्षा, भारत की एकता के प्रतीक हैं। उनकी स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है, फिर भी शासन में उनका पद एक धुरी के समान है जो संकट के समय संवैधानिक तंत्र को संतुलित कर सकता है।

5.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन

भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक गणतन्त्र है। गणतन्त्र में राष्ट्र का अध्यक्ष वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित होता है। राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से होता है।

5.3.1 योग्यता

राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक हैं -

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
3. वह लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो,
4. वह संघ सरकार और राज्य सरकारों या स्थानीय सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो,
5. राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल और मन्त्रियों के पद लाभ के पद नहीं माने जाते, इसलिए उन्हें त्याग-पत्र देने की आवश्यकता नहीं होती।

5.3.2 निर्वाचन

अनुच्छेद- 54 के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल के सदस्य करते हैं जिसमें-

1. संसद के दोनों सदनों (लोक सभा, राज्य सभा) के निर्वाचित सदस्य।
2. राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होंगे।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में संघीय संसद के साथ-साथ राज्यों के विधान सभाओं के सदस्यों को शामिल कर इस बात का प्रयत्न किया गया है, कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो तथा संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तव में राष्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।

भारतीय संविधान के 71वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि पोण्डेचेरी और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की विधान सभाओं के सदस्य, राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल में शामिल किये जायेंगे।

1957 के राष्ट्रपति चुनाव में कुछ स्थान रिक्त होने पर राष्ट्रपति के चुनाव की वैधता को चुनौती दी गयी। न्यायालय ने अपने निर्णय में ऐसी स्थिति में भी चुनाव संभव बताया। इस समस्या के निराकरण हेतु 1961 में 11वें संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद- 71 में उपबन्ध किया गया है कि निर्वाचक मंडल का स्थान रिक्त होने पर भी चुनाव वैध हैं।

राष्ट्रपति का निर्वाचन ऊपर वर्णित निर्वाचन मण्डल द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है, अनुच्छेद 55(3)। मतदान गुप्त होता है। इस पद्धति में चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा प्राप्त करना होता है। न्यूनतम काटा निर्धारण का सूत्र इस प्रकार है-

दिये गये मतों की संख्या

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{निर्वाचित होने वाले प्रत्याशियों की संख्या}}{\text{कुल विधायकों की संख्या}} + 1$$

निर्वाचित होने वाले प्रत्याशियों की संख्या

राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचन मण्डल के सदस्यों के मतों का मूल्य समान नहीं होता है। कुछ राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य अधिक जनसंख्या का और कुछ कम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए विधान सभा सदस्य के मत का मूल्य उनकी जनसंख्या के अनुपात में होता है। साथ ही राष्ट्रपति के चुनाव में केन्द्र और राज्य को बराबर की हिस्सेदारी देने के लिए सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों की विधान सभाओं के समस्त सदस्यों के मत मूल्य और संसद के सभी निर्वाचित सदस्यों के मतों के मूल्य बराबर रखने पर जोर दिया जाता है। जिससे राष्ट्रपति का चुनाव दलगत राजनीति का शिकार न हो और वह राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधि हो सके।

मत मूल्य निकालने का तरीका-

$$\text{विधान सभा के एक सदस्य के मत का मूल्य} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{कुल विधायकों की संख्या} \times 100}$$

सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों

$$\text{संसद सदस्य के एक मत का मूल्य} = \frac{\text{विधान सभा सदस्यों के मतों का मूल्य}}{\text{संसद के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}}$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में उस प्रत्याशी को निर्वाचित घोषित किया जाता है, जो न्यूनतम कोटा अर्थात् आधे से अधिक मत प्राप्त करे। राष्ट्रपति के निर्वाचन में जितने प्रत्याशी होते हैं, मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है। मतदाता अपना मत वरीयता क्रम के आधार पर देता है। जैसे-

	प्रत्याशी	A	B	C	D
मतदाता	P	1	3	2	4
	G	2	1	3	4
	R	4	1	2	3
	S	3	1	2	4
	T	2	3	1	4

इस आरेख में चार प्रत्याशी A, B, C, D, हैं, मतदाता P, G, R, S, T हैं, जिन्होंने अपने मत वरीयता के आधार पर राष्ट्रपति प्रत्याशी को दिये हैं। सर्वप्रथम, प्रथम वरीयता के मत की गणना की जाती है। यदि उसे न्यूनतम कोटा प्राप्त हो जाय तो वह विजयी घोषित होता है। यदि कोटा न प्राप्त हो सके तो द्वितीय वरीयता के मत की गणना होती है। इस द्वितीय दौर में जिस उम्मीदवार को प्रथम वरीयता का सबसे कम मत मिला हो उसे गणना से बाहर कर, उसके द्वितीय वरीयता के मतमूल्य को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यदि द्वितीय दौर की गणना में किसी प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो तो तीसरे दौर की मतगणना होती है, जिसमें दूसरे दौर की मतगणना में सबसे कम मतमूल्य पाने वाले प्रत्याशी के तीसरे वरीयता के मतमूल्य को शेष उम्मीदवारों को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक अपनायी जाती है, जब तक किसी प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो जाय।

5.3.3 राष्ट्रपति द्वारा शपथ

राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने से पूर्व अनुच्छेद- 60 के तहत भारत के मुख्य न्यायाधीश या उनकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष अपने पद की शपथ लेता है।

5.3.4 राष्ट्रपति की पदावधि

संविधान के अनुच्छेद- 56 के अनुसार राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से, पांच वर्ष की अवधि तक अपने पद पर बना रहता है। इस पाँच वर्ष की अवधि के पूर्व भी वह उपराष्ट्रपति को वह अपना त्यागपत्र दे सकता है या उसे पाँच वर्ष की अवधि से पूर्व संविधान के उल्लंघन के लिए संसद द्वारा महाभियोग से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति अपने पाँच वर्ष के कार्यकाल पूर्ण होने के बाद तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि इसके उत्तराधिकारी द्वारा पद ग्रहण न कर लिया जाए।

5.3.5 उन्मुक्तियां

राष्ट्रपति अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं होता है। अपने पद के कर्तव्यों एवं शक्तियों का प्रयोग करते हुए, उनके सम्बन्ध में उसके विरुद्ध न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

5.3.6 वेतन

अनुच्छेद- 59(3) अनुसार कार्यकाल के दौरान राष्ट्रपति वेतन और उपलब्धियों में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती है।

5.3.7 महाभियोग प्रक्रिया

राष्ट्रपति को अनुच्छेद- 61 के अनुसार महाभियोग प्रक्रिया द्वारा, संविधान के अतिक्रमण के आधार पर हटाया जा सकता है। संसद के जिस सदन में महाभियोग का संकल्प प्रस्तुत किया गया हो, उसके एक-चौथाई सदस्यों द्वारा हस्ताक्षर सहित आरोप-पत्र राष्ट्रपति को 14 दिन पूर्व दिया जाना आवश्यक है। इस सदन में संकल्प को दो तिहाई बहुमत से पारित करके दूसरे सदन को भेजा जाएगा, जो राष्ट्रपति पर लगे इन आरोपों की जाँच करेगा। इस दौरान राष्ट्रपति स्वयं या अपने प्रतिनिधि के द्वारा अपना पक्ष रख सकता है। यदि दूसरा सदन आरोपों को सही पाता है

और उसे अपनी संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति पद त्याग के लिए बाध्य होता है।

5.4 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

हमारे संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक शक्तिया प्रदान की गयी हैं, जो निम्नलिखित हैं-

5.4.1 कार्यपालिका शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद- 53(1) के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इस शक्ति का प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।

अनुच्छेद- 74 के अनुसार राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्री-परिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा। राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में मंत्रिमण्डल की सलाह के अनुसार कार्य करेगा। इसके आगे संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा यह जोड़ा गया कि यदि मंत्री-परिषद की सलाह पर राष्ट्रपति पुनर्विचार करने को कह सकेगा, परन्तु राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात दी गयी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। राष्ट्रपति की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों में मंत्री-परिषद का गठन महत्वपूर्ण है। संसदीय परम्परा के अनुरूप निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल के नेता को राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करता है तथा प्रधानमंत्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। अब तक नियुक्त अधिकांश प्रधानमंत्री लोक सभा के सदस्य रहे हैं। श्रीमती इन्दिरा गाँधी पहली ऐसी प्रधानमंत्री थी जो राज्य सभा से मनोनीत सदस्य थी। पूर्व प्रधानमंत्री डा० मनमोहन सिंह भी राज्य सभा सदस्य थे। संविधान के 91वें संशोधन 2003 द्वारा अनुच्छेद- 75(1क) के अनुसार मंत्री, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करते हैं। अनुच्छेद- 75(3) के अनुसार, मंत्री-परिषद के सदस्य सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तर दायी होते हैं। अनुच्छेद- 75(5) के अनुसार, कोई भी मंत्री, निरन्तर छः मास तक संसद के किसी सदन का सदस्य हुए बिना भी मंत्री रह सकता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब लोक सभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले अथवा लोक सभा में अविश्वास मत के कारण मंत्री-परिषद को त्याग-पत्र देना पड़े, ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति किस व्यक्ति को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करे, इस सम्बन्ध में संविधान मौन है। इस सबन्ध में राष्ट्रपति को

स्वविवेकाधिकार प्राप्त है। इस सम्बन्ध में संसदीय परम्परा के अनुरूप सर्वप्रथम सबसे बड़े दल के नेता तथा जो बहुमत सिद्ध कर सकता है, उसे प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करते हैं।

इसके साथ-साथ राष्ट्रपति को संघ के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति की शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। भारत के महान्यायवादी की नियुक्ति, नियन्त्रक-महालेखक की नियुक्ति, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति, राज्यपाल की नियुक्ति, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति, मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयोग के अन्य सदस्य की नियुक्ति, अनुसूचित जातियों जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति, भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति।

ये सभी नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा मंत्री-परिषद की सलाह पर या संविधान द्वारा निश्चित व्यक्तियों से परामर्श के पश्चात की जाती है। राष्ट्रपति को उपर्युक्त अधिकारियों को हटाने की भी शक्ति प्राप्त है।

5.4.2 विधायी शक्तियाँ

भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संविधान के अनुच्छेद- 79 के अनुसार राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। संसद का गठन राष्ट्रपति, लोक सभा और राज्य सभा से मिलकर होता है। इस प्रकार संसद का महत्वपूर्ण अंग होने के नाते राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण विधायी शक्तियाँ प्राप्त हैं। कोई भी विधेयक संसद के दोनों सदनों (लोक सभा और राज्य सभा) द्वारा पारित होने के बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही अधिनियम का रूप लेता है।

संसद का अंग होने के नाते राष्ट्रपति को लोक सभा और राज्य सभा का सत्र आहूत करने और उसका सत्रावसान करने की शक्ति है। अनुच्छेद- 85 के अनुसार वह लोक सभा का विघटन कर सकता है। अनुच्छेद-108 के अनुसार वह साधारण विधेयक पर दोनों सदनों में विवाद होने पर संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। अनुच्छेद- 87 के अनुसार राष्ट्रपति प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात प्रथम सत्र के प्रारम्भ पर और प्रत्येक वर्ष के पहले सत्र के प्रारम्भ पर एक साथ संसद के दोनों सदनों में अभिभाषण करता है। इसके अतिरिक्त किसी एक सदन या दोनों सदनों में एक साथ अभिभाषण करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अनुच्छेद- 80 के अनुसार राज्य सभा में 12 सदस्यों को मनोनीत कर सकता है जो साहित्य, कला, विज्ञान या समाजसेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त हों और अनुच्छेद- 331 के अनुसार लोक सभा में दो सदस्यों को आंग्ल भारतीय समुदाय से मनोनीत कर सकता है।

संविधान के उपबन्धों और कुछ अधिनियमों का अनुपालन करने के लिए राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि कुछ प्रतिवेदनों को संसद के समक्ष रखवायेगा। इसका उद्देश्य यह है कि संसद को उन प्रतिवेदनों और उस पर की गयी कार्यवाही पर विचार करने का अवसर प्राप्त हो जाएगा। राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि निम्नलिखित प्रतिवेदनों और दस्तावेजों को संसद के समक्ष रखवाएँ।

- अनुच्छेद- 112 के अनुसार- वार्षिक वित्तीय विवरण (बजट),
- अनुच्छेद- 151 के अनुसार- नियन्त्रक महालेखक का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 281 के अनुसार- वित्त आयोग की सिफारिशें,
- अनुच्छेद- 323 के अनुसार- संघ लोक सेवा आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 340 के अनुसार- पिछड़ा वर्ग आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 348 के अनुसार- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 94(क) के अनुसार- राष्ट्रपति अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए, भारतीय संविधान के अंग्रेजी भाषा में किए गये प्रत्येक संशोधन का हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित करायेगा। इसके अतिरिक्त कुछ विषयों पर कानून बनाने के लिए, उस पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति आवश्यक है। जैसे-

अनुच्छेद- 3 के अनुसार नये राज्यों के निर्माण या विद्यमान राज्य की सीमा में परिवर्तन से संबंधित विधेयकों पर।
 अनुच्छेद- 117(1) धन विधेयकों के सम्बन्ध में। अनुच्छेद- 117(3) ऐसे व्यय से संबंधित विधेयक, जो भारत की संचित निधि से किया जाना हो। अनुच्छेद- 304 के अनुसार, राज्य सरकारों के ऐसे विधेयक जो व्यापार और वाणिज्य की स्वतन्त्रता पर प्रभाव डालते हों।

इस बात का हम उल्लेख कर चुके हैं कि संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उस पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति न प्रदान करें। राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे सकता है, विधेयक को रोक सकता है या दोनों सदनों द्वारा पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है। यदि संसद पुनर्विचार के पश्चात विधेयक को राष्ट्रपति को वापस करती है, तो वह अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य है। यह स्पष्ट करना

भी आवश्यक है कि राष्ट्रपति धन विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस नहीं कर सकता है, क्योंकि धन विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही लोक सभा में रखा जाता है।

2006 में लाभ के पद से संबंधित संसद अयोग्यता निवारण संशोधन विधेयक लोक सभा और राज्य सभा द्वारा पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया, जिसे राष्ट्रपति ए0पी0जे0 कलाम ने पुनर्विचार के लिए, यह कहते हुए वापस कर दिया कि सांसदों और विधायकों को लाभ के पद के दायरे से बाहर रखने के व्यापक आधार बताए जाएं। संसद के दोनों सदनों ने इसे पुनः मूल रूप में ही पारित कर दिया। यह पहला अवसर था कि राष्ट्रपति की आपत्तियों पर विचार किए बिना ही विधेयक को उसी रूप में पारित कर दिया गया। राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त हैं-

1. राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित ऐसा विधेयक जो उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को प्रभावित करता है तो राज्यपाल उस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए आरक्षित कर लेगा।
2. वित्तीय आपात काल लागू होने की स्थिति में, राष्ट्रपति यह निर्देश दे सकता है कि राज्य विधान सभा में प्रस्तुत किये जाने से पूर्व सभी धन विधेयकों पर उसकी अनुमति ली जाय।
3. सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।
4. राज्य के अन्दर या अन्य राज्यों के साथ व्यापार पर प्रतिबंध लगाने वाले विधेयकों को विधान सभा में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है।
5. **अध्यादेश जारी करने की शक्ति-** जब संसद सत्र में न हो और राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि वर्तमान परिस्थिति में यथाशीघ्र कार्यवाही की आवश्यकता है, तो वे अनुच्छेद- 123 के अनुसार अध्यादेश जारी करते हैं। इस अध्यादेश का प्रभाव संसद द्वारा पारित और राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत अधिनियम के समान ही होता है। किन्तु अधिनियम स्थायी होता है और अध्यादेश का प्रभाव केवल छः माह तक ही रहता है। छः माह के अन्दर यदि अध्यादेश को संसद की स्वीकृति न प्राप्त हो तो वह स्वतः ही समाप्त हो जाएगा।

6. **वीटो (निषेधाधिकार) की शक्ति-** यह कार्यपालिका की शक्ति है, जिसके द्वारा वह किसी विधेयक को अनुमति देने से रोकता है। अनुमति देने से इन्कार करता है या अनुमति देने में विलम्ब करता है। वीटो के कई प्रकार हैं-

- **आत्यंतिक वीटो या पूर्ण वीटो-** यह वह वीटो है, जिसमें राष्ट्रपति संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को अनुमति देने से इन्कार कर देता है। पूर्ण वीटो का प्रयोग धन विधेयक के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता, क्योंकि धन विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से ही लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है।
- **निलम्बनकारी वीटो-** जिस वीटो को सामान्य बहुमत से समाप्त किया जा सकता है, उसे निलम्बनकारी वीटो कहा जाता है। इस प्रकार के वीटो का प्रयोग हमारे राष्ट्रपति उस समय करते हैं जब अनुच्छेद- 111 के अनुसार वे किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस करते हैं।
- **पाकेट वीटो या जेबी वीटो-** संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति न तो अनुमति देता है और न ही पुनर्विचार के लिए वापस करता है, तब वह जेबी वीटो का प्रयोग करता है। हमारे संविधान में यह स्पष्ट उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति कितने समय के भीतर विधेयक को अपनी अनुमति देगा। फलतः वह विधेयक को अपनी मेज पर अनिश्चित काल तक रख सकता है। जेबी वीटो का प्रयोग 1986 में संसद द्वारा पारित भारतीय डाक अधिनियम के सन्दर्भ में राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने किया था।

5.4.3 राजनयिक शक्तियाँ

यहाँ हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि 21वीं सदी में भू-मण्डलीकरण की प्रक्रिया चल रही है। इस प्रक्रिया ने एक राष्ट्र के हित को विश्व के अन्य राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया है। राष्ट्रों के मध्य आपसी संबंधों का संचालन राजनयिकों के द्वारा होता है। हमारे देश में राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान है। इसलिए अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों के संचालन की शक्ति भी राष्ट्रपति को प्रदान की गयी है और अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों का संचालन भी राष्ट्रपति के नाम से किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मामले में वे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत की ओर से भेजे जाने वाले राजदूत की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करते हैं। दूसरे देशों से भारत में नियुक्त होने वाले राजदूत और उच्चायुक्त अपना

परिचयपत्र राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इन सभी विषयों में राष्ट्रपति मंत्री-परिषद की सलाह के अनुसार कार्य करता है।

5.4.4 सैनिक शक्तियाँ

जैसा कि हम इस इकाई में पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि संघ की समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं, इसी कारण से वह तीनों सेनाओं का प्रधान सेनापति है। किन्तु हमारे राष्ट्रपति की सैन्य शक्तियाँ अमेरिका के राष्ट्रपति के समान नहीं हैं, क्योंकि ये अपनी शक्तियों के प्रयोग संसद द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार करते हैं। जबकि अमेरिका के राष्ट्रपति पर इस प्रकार के कोई प्रतिबंध नहीं है।

5.4.5 न्यायिक शक्तियाँ

भारतीय संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक रूप से न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1. **न्यायाधीशों की नियुक्ति-** अनुच्छेद- 217 के अनुसार राष्ट्रपति उच्च न्यायालय और अनुच्छेद- 124 के तहत उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हैं। उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय वह उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश से परामर्श कर सकते हैं। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करते हैं।
2. **क्षमादान की शक्ति-** राष्ट्रपति को कार्यपालिका और विधायी शक्तियों के साथ-साथ न्यायिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, जिनमें क्षमादान की शक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो अनुच्छेद- 72 के अनुसार प्राप्त है। वे इस क्षमादान की शक्ति के तहत किसी दोषी ठहराये गये व्यक्ति के दण्ड को क्षमा तथा सिद्ध दोष के निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग निम्नलिखित परिस्थितियों में करते हैं। सेना द्वारा दिये गये दण्ड के मामले में, जब दण्ड ऐसे विषयों के मामले में दिया गया हो जो संघ के कार्यपालिका क्षेत्र में आते हों, ऐसी परिस्थिति में जब किसी व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया गया हो, क्षमादान की शक्ति का प्रयोग भी वह मंत्री-परिषद की सलाह के अनुसार करता है।
क्षमादान की इस शक्ति को देने के पीछे सोच यह है कि न्यायाधीश भी मनुष्य होते हैं। इसलिए उनके द्वारा की गयी किसी भूल को सुधारने की गुंजाइस बनी रहे।

3. उच्चतम न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार- हमारे संविधान के अनुच्छेद- 143 के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को ऐसा कभी प्रतीत होता है कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न होने की संभावना है, जो ऐसी प्रकृति और व्यापक महत्व का है तो उस पर उच्चतम न्यायालय से राय माँग सकता है। इस प्रकार की राय राष्ट्रपति पर बाध्यकारी नहीं होती है। इसके साथ-साथ उच्चतम न्यायालय को यदि वह आवश्यक समझे तो अपनी राय देने से इन्कार कर सकता है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को अन्य अधिकार प्राप्त हैं। जैसे- संविधान के अनुच्छेद- 130 के अनुसार, यदि सर्वोच्च न्यायालय अपना स्थान दिल्ली के बजाय किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरित करना चाहे तो इसके लिए राष्ट्रपति से अनुमति लेना आवश्यक है।

5.4.6 आपात कालीन शक्तियाँ

हमारे संविधान निर्माता गुलामी की दुःखद घटना और आजादी की लम्बी लड़ाई के पश्चात आजाद हो रहे देश के दुःखद विभाजन से परिचित थे। इसलिए देश में भविष्य में उत्पन्न होने वाली संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को विस्तृत आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। हमारे संविधान के भाग-18 के अनुच्छेद- 352 से अनुच्छेद- 360 तक राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का उपबन्ध किया गया है। ये शक्तियाँ निम्नलिखित तीन प्रकार की हैं-

1. राष्ट्रीय आपात- संविधान के अनुच्छेद- 352 में यह उपबन्ध किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाय कि युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा संकट में है या संकट में होने की आशंका है, तो उनके द्वारा आपात की उद्-घोषणा की जा सकती है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूल संविधान में सशस्त्र विद्रोह की जगह आन्तरिक अशान्ति शब्द था। 1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी के लोक सभा चुनाव को इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा रद्द किये जाने के पश्चात आन्तरिक अशान्ति के नाम पर प्रधानमंत्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय आपात की घोषणा की।

1977 के लोक सभा के चुनाव में कांग्रेस को पराजय का मुंह देखना पड़ा। जनता पार्टी की सरकार बनी। इस सरकार ने 1979 के 44वें संविधानिक संशोधन के द्वारा आन्तरिक अशान्ति के स्थान पर सशस्त्र विद्रोह शब्द

रखा गया। साथ ही यह भी उपबन्ध किया गया कि आपातकाल की घोषणा अब संघ के मंत्रिमण्डल (प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल स्तर के अन्य मंत्री) की सिफारिश से राष्ट्रपति द्वारा ही की जाएगी।

राष्ट्रपति द्वारा आपात की घोषणा के एक माह के अन्दर संसद के द्वारा विशेष बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। दूसरे शब्दों में इस घोषणा को लोक सभा और राज्य सभा द्वारा पृथक-पृथक कुल सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। आपात की घोषणा के समय यदि लोक सभा का विघटन हुआ है, तो एक माह के अन्दर राज्य सभा की विशेष स्वीकृति आवश्यक है। नवगठित लोकसभा के द्वारा उसकी प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर विशेष बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। आपातकाल को यदि आगे भी लागू रखना है तो उसे प्रत्येक छः माह पश्चात संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यदि आपातकाल की घोषणा एक सदन द्वारा की जाय और दूसरा सदन अस्वीकार कर दे, तो यह घोषणा एक माह के पश्चात समाप्त हो जाएगी। इस आपात काल को संसद साधारण बहुमत से समाप्त कर सकती है।

संविधान के 38वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि आपात काल की उद्-घोषणा को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा इस प्रावधान को समाप्त कर दिया गया। संविधान के प्रारम्भ में यह उपबन्ध था कि अनुच्छेद- 352 के अनुसार आपातकाल को पूरे देश में ही लागू किया जा सकता है, किसी एक भाग में नहीं। परन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि आपात काल की उद्-घोषणा देश के किसी एक भाग या कई भागों में की जा सकती है।

- अभी तक कुल तीन बार राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गयी है। पहली बार, 26 अक्टूबर 1962 से 10 जनवरी 1968 तक चीनी आक्रमण के कारण। दूसरी बार, पाकिस्तान के द्वारा आक्रमण के कारण 03 दिसम्बर 1971 को घोषणा की गयी तथा तीसरी बार, 25 जून 1975 को आन्तरिक अशान्ति के आधार पर आपातकाल की घोषणा की गयी, इनकी समाप्ति 21 मार्च 1977 को की गयी।
- अनुच्छेद- 83(2) के अनुसार, जब आपात की उद्-घोषणा की गयी हो तब लोक सभा अपने कार्यकाल को एक साल के लिए बढ़ा सकती है। किन्तु आपात की उद्-घोषणा के समाप्त होने

पर, यह कार्यकाल वृद्धि अधिकतम छः मास तक ही चल सकती है। अनुच्छेद- 250 के अनुसार, आपातकाल की उद्-घोषणा के दौरान संबंधित राज्य में संसद को राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि राज्य की विधायी शक्तियाँ राज्य के पास बनी रहती है, किन्तु उन पर निर्णायक शक्ति संसद के पास रहती है।

- हम उपर इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि अनुच्छेद- 73 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति उन विषयों तक सीमित है, जिन पर संसद को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु आपातकाल की उद्-घोषणा के दौरान केन्द्र सरकार जहाँ आपातकाल लागू है, उस राज्य के साथ ही साथ देश के किसी भी राज्य को यह निर्देश दे सकता है कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करे।
- संविधान के अनुच्छेद- 354 में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राष्ट्रपति के आदेश से केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध को उस सीमा तक परिवर्तित किया जा सकता है, जिस सीमा तक की स्थिति का सामना करने के लिए आवश्यक हो। राष्ट्रपति के इस प्रकार के आदेश को यथाशीघ्र संसद के समक्ष रखना आवश्यक होता है।
- बाह्य आक्रमण के कारण यदि राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गयी है, तो अनुच्छेद- 358 के अनुसार, अनुच्छेद- 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का अधिकार निलंबित हो जाता है। जबकि अनुच्छेद- 359 के तहत उन्हीं अधिकारों का निलंबन होता है, जो राष्ट्रपति के आदेश में स्पष्ट किया गया हो। इसके बावजूद भी अनुच्छेद- 20 और 21 के तहत प्रदत्त मूल अधिकारों का निलंबन किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता है।

2. राज्यों में संवैधानिक तन्त्र की विफलता- अनुच्छेद- 355 में यह उपबन्ध है कि संघ सरकार का यह दायित्व है कि वह राज्यों की बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति से रक्षा करे। साथ ही यह भी देखे कि प्रत्येक राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार चल रहा हो। अनुच्छेद- 356(1) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाए कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार न चलने के कारण संवैधानिक तन्त्र विफल हो गया है तो वह राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है। राष्ट्रपति का यह

समाधान राज्यपाल के प्रतिवेदन पर भी आधारित हो सकता है। अनुच्छेद- 365 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार के विरुद्ध अनुच्छेद- 356 का प्रयोग उस समय भी कर सकता है, जब संबंधित राज्य की सरकार संघ सरकार के निर्देशों का पालन करने में असफल हो जाती है।

राज्यों में राष्ट्रपति शासन की घोषणा दो माह के लिए होती है, किन्तु यदि घोषणा के पश्चात लोक सभा का विघटन हो जाता है तो नवीन लोक सभा के गठन के बाद प्रथम बैठक के तीस दिन के बाद घोषणा तभी लागू रह सकती है जब कि नवीन लोक सभा उसका अनुमोदन कर दे। इस प्रकार की घोषणा एक बार में छः माह के लिए और अधिकतम तीन वर्ष (पंजाब में पांच वर्ष तक लागू थी) के लिए लागू की जा सकती है। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि एक वर्ष से अधिक समय तक राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए दो आवश्यक शर्तें हैं, पहली- जब सम्पूर्ण देश में या उसके किसी एक भाग में अनुच्छेद- 352 के तहत राष्ट्रीय आपात काल की घोषणा लागू हो और दूसरी- निर्वाचन आयोग इस बात को प्रमाणित करे कि संबंधित राज्य में वर्तमान परिस्थितियों में चुनाव कराना सम्भव नहीं है।

- **राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का प्रभाव-** राष्ट्रपति इस बात की घोषणा कर सकता है कि राज्य के कानून निर्माण की शक्ति का प्रयोग संसद करेगी। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनुच्छेद- 356 की घोषणा के पश्चात यह आवश्यक नहीं है कि विधान सभा का विघटन कर दिया जाय। विधान सभा को केवल निलंबित भी किया जा सकता है। यदि संसद का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक खर्च की अनुमति दे सकता है। राष्ट्रपति कार्यपालिका सम्बन्धी सभी या आंशिक कृत्यों को अपने हाथों में ले सकता है, उच्च न्यायालय के कार्यों को छोड़कर।
- **अनुच्छेद- 352 और अनुच्छेद- 356 की तुलना-** जैसा कि ऊपर आप देख चुके हैं अनुच्छेद- 352 और 356 का प्रयोग राष्ट्रपति करते हैं, किन्तु दोनों के प्रभावों में अन्तर हैं। जब किसी राज्य में राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की जाती है तो संसद को समवर्ती-सूची के साथ-साथ राज्य-सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, किन्तु राज्य विधान सभा और कार्यपालिका का अस्तित्व बना रहता है और वे अपना कार्य भी करती रहती हैं, परन्तु अनुच्छेद- 356 के तहत जब राष्ट्रपति किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफलता की घोषणा करते हैं, तो संबंधित राज्य की विधान सभा निलंबित

कर दी जाती है और कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ पूर्णतः या आंशिक रूप से राष्ट्रपति द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं।

अनुच्छेद- 356 के तहत संवैधानिक तन्त्र के विफलता की घोषणा की अधिकतम अवधि तीन वर्ष हो सकती है, जबकि अनुच्छेद- 352 के तहत लागू किया जाने वाला राष्ट्रीय आपातकाल को प्रत्येक छः माह के पश्चात संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यह प्रक्रिया तब तक चल सकती है जब तक कि संसद स्वयं के संकल्प से समाप्त न कर दे।

3. वित्तीय आपात काल- अनुच्छेद- 360 में यह उपबंध किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत में या उसके किसी राज्य क्षेत्र में वित्तीय साख को खतरा उत्पन्न हो गया है तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकते हैं। वित्तीय आपात की उद्-घोषणा को भी राष्ट्रीय आपात के समान ही दो माह के अन्दर संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यदि दो माह के पूर्व संसद के दोनों सदन अपनी स्वीकृति प्रदान कर दें तो, इसे अनिश्चित काल तक लागू किया जा सकता है, अन्यथा यह उद्-घोषणा दो माह की समाप्ति पर स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। यदि इसी दौरान लोक सभा का विघटन हुआ है तो राज्य सभा की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु नवीन लोक सभा के प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर लोक सभा की स्वीकृति आवश्यक है, अन्यथा घोषणा स्वतः ही निरस्त हो जाएगी।

- **वित्तीय आपात की घोषणा का प्रभाव-** संघ और राज्यों के किसी भी वर्ग के अधिकारियों के वेतन में कमी की जा सकती है। इस समय राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन में भी कटौती के आदेश दे सकता है। राज्य के समस्त वित्त विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए पेश किये जाने के निर्देश दिये जा सकते हैं। संघीय सरकार, राज्य की सरकार को शासन सम्बन्धी आवश्यक निर्देश दे सकती है। राष्ट्रपति द्वारा संघ और राज्यों के मध्य वित्तीय वितरण के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये जा सकते हैं।

5.5 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को प्रदान की गयी व्यापक शक्तियों के आधार पर यह धारणा बनी कि राष्ट्रपति कुछ शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद के परामर्श के बिना भी कर सकते हैं, जो संसदात्मक व्यवस्था के परम्पराओं

के विपरीत है। इसलिए इसके निवारण के लिए 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा अनुच्छेद- 74 के स्थान पर इस प्रकार के उपबन्ध किया गया।

राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्री-परिषद होगी और राष्ट्रपति अपने कार्यों के संपादन में मंत्री-परिषद के परामर्श के आधार पर कार्य करेगा। इस उपबन्ध से राष्ट्रपति के पद की गरिमा को आघात पहुँचा। इसलिए 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा निम्न उपबन्ध किये गये-

राष्ट्रपति को मंत्री-परिषद से जो परामर्श प्राप्त होगा उसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि वह मंत्री-परिषद को इस परामर्श पर पुनर्विचार करने के लिए कहे, लेकिन पुनर्विचार के बाद मंत्री-परिषद जो परामर्श देगी, राष्ट्रपति उसी परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।

इस प्रकार राष्ट्रपति के सम्बन्ध में संवैधानिक स्थिति यह नियत करती है कि संसदीय शासन की भावना के अनुरूप राष्ट्रपति, राष्ट्र का संवैधानिक प्रधान है। किन्तु भारतीय राजनीति में उभरती हुई अनिश्चितता के दौर में राष्ट्रपति की भूमिका सक्रिय और अति महत्वपूर्ण होती जा रही है। राष्ट्रपति की इस सक्रियता और महत्ता का कारण, गठबन्धन की राजनीति और प्रधानमंत्री पद की गरिमा में तेज गिरावट प्रमुख कारण है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राष्ट्रपति के चुनाव में कौन-कौन भाग लेता है?
2. राष्ट्रपति का कार्य काल कितने वर्ष का होता है?
3. राष्ट्रपति पर महाभियोग किस अनुच्छेद के तहत लगाया जाता है?
4. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किस अनुच्छेद के तहत की जाती है?
5. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किस अनुच्छेद के तहत की जाती है?
6. राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपात की घोषणा किस अनुच्छेद के अनुसार करता है?
7. 1975 में राष्ट्रीय आपात की घोषणा किस आधार पर की गयी थी?
8. राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा होता है। सत्य/असत्य
9. राष्ट्रपति के निर्वाचन में केवल लोक सभा और राज्य सभा के सदस्य भाग लेते हैं। सत्य/असत्य
10. राष्ट्रपति पर महाभियोग अनुच्छेद- 63 के तहत लगाया जाता है। सत्य/असत्य

11. राष्ट्रपति को शपथ राज्यपाल दिलाते हैं। सत्य/असत्य

12. राष्ट्रपति, राज्यपाल की सिफारिश से अनुच्छेद- 356 के तहत राष्ट्रीय आपात की घोषणा करते हैं।

सत्य/असत्य

5.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होने के साथ ही साथ व्यवस्थापिका का अंग भी है, क्योंकि संसद के द्वारा पारित कोई भी विधेयक तभी कानून बनता है जब राष्ट्रपति उसे अपनी स्वीकृति देते हैं। इस प्रकार संसदीय शासन की जो प्रमुख विशेषता है, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरूप, वह राष्ट्रपति के पद में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भारत में संसदीय प्रणाली में राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है, किन्तु ब्रिटेन के सम्राट के समान वह खर मुहर नहीं है। राष्ट्रपति को कुछ विवेकी शक्तियाँ प्राप्त हैं और कुछ स्थितियों में भारत के राष्ट्रपति ने बड़ी ही समझदारी से कार्य किया है। जब किसी दल को लोक सभा में बहुमत नहीं मिलता है तो राष्ट्रपति स्वविवेक से उसे सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करता है, जिसे वह समझे कि वह सदन में अपना बहुमत सिद्ध कर सकता है। इसके साथ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 1984 में इन्दिरा गाँधी की हत्या के उपरान्त प्रधानमंत्री का पद रिक्त न हो, राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने राजीव गाँधी को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया। किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए राष्ट्रपति के द्वारा लौटाया जाना भी अपने आप में गम्भीर विषय माना जाता है। इस प्रकार जैसा उपर उल्लेख किया गया है, राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते व्यापक रूप से नियुक्तियाँ करने और पदच्युत करने का भी अधिकार है, साथ ही क्षमादान की महत्वपूर्ण शक्ति भी प्राप्त है। विधायन के क्षेत्र में जब संसद का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति भी महत्वपूर्ण है। इस प्रकार से यह पद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

5.7 शब्दावली

संसद- राष्ट्रपति + राज्य सभा + लोक सभा

औपचारिक प्रधान- जिसके नाम से समस्त कार्य किये जाते हैं, परन्तु वह स्वयं उन शक्तियों का प्रयोग न करता हो।

गणतन्त्र- राज्य का प्रधान निर्वाचित हों, वंशानुगत राजा नहीं।

कोटा- जीत के लिए आवश्यक न्यूनतम मत (समस्त का 51 प्रतिशत)

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लोक सभा, राज्य सभा और सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य, 2. 5 वर्ष, 3. अनुच्छेद 61,
4. अनुच्छेद 124, 5. अनुच्छेद 217, 6. अनुच्छेद 352, 7. आन्तरिक अशान्ति, 8. असत्य, 9. असत्य, 10. असत्य, 11. असत्य, 12. असत्य

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ० रूपा मंगलानी- भारतीय शासन एवं राजनीति (2009), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
2. त्रिवेदी एवं राय- भारतीय सरकार एवं राजनीति।
3. महेन्द्र प्रताप सिंह- भारतीय शासन एवं राजनीति (2011), ओरियन्टल ब्लैक स्वान, नई दिल्ली।
4. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी (2011), लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत का संविधान- ब्रज किशोर शर्मा (2008), प्रेन्टिस हाल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।
2. भारत में लोक प्रशासन- बी०एल० फड़िया (2010), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. The Constitution of India- J.C. Johari (2004) Sterling Publishers Private Limited, New Delhi

5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान से अधिक है, स्पष्ट कीजिये।
2. राष्ट्रपति के चुनाव प्रक्रिया की विवेचना कीजिये।
3. राष्ट्रपति के आपातकालीन शक्तियों की समीक्षा कीजिये।

इकाई- 6 प्रधानमन्त्री और मंत्री-परिषद

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रधानमन्त्री

6.2.1 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति

6.2.2 प्रधानमन्त्री और मंत्रिमण्डल के बीच सम्बन्ध

6.2.3 प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध

6.2.4 प्रधानमन्त्री और संसद के बीच सम्बन्ध

6.3 सारांश

6.4 शब्दावली

6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में भारतीय प्रशासन में राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में अध्ययन किया है और पाया कि भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के सम्राट से अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण स्थिति में है, क्योंकि एक तरफ वह राष्ट्र की एकता और गरिमा का प्रतीक है तो उसे कुछ स्वविवेकि शक्तियाँ प्रदान कर राजव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गयी है।

इस इकाई में हम देखेंगे कि राष्ट्रपति के नाम से जिन शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद करती है, उसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होता है। प्रधानमन्त्री का पद हमारे देश में संसदीय शासन प्रणाली होने के नाते बहुत महत्वपूर्ण हो

जाता है, क्योंकि लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होने के नाते इस कारण से सदन का नेता होने के कारण और अन्ततः दलीय अनुशासन के कारण से शासन व्यवस्था को नेतृत्व प्रदान करता है। किन्तु यही शक्तिशाली प्रधानमंत्री की स्थिति, गठबंधन सरकार होने पर अत्यन्त कमजोर हो जाती है, फिर भी वह केन्द्रीय सत्ता की धुरी होता है।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- जान सकेंगे कि संसदीय शासन में प्रधानमंत्री कितना महत्वपूर्ण है।
- सरकार के गठन में प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रधानमंत्री निम्न सदन (लोक सभा) का नेता भी होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रधानमंत्री अपने दल का अत्यधिक प्रभावशाली होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- मंत्री-परिषद के विघटन की भी प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण शक्ति होती है, इस सम्बन्ध में जान सकेंगे।

6.2 प्रधानमंत्री

भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। इस शासन में प्रधानमंत्री का पद, शासन व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु होता है। इसमें नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद पाया जाता है। नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति होता है और वास्तविक कार्यपालिका मंत्री-परिषद होती है, जिसका नेतृत्व प्रधानमंत्री करता है। राष्ट्रपति के नाम से समस्त कार्यपालिका शक्तियों प्रयोग, प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्री-परिषद करती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 74(1) के अनुसार राष्ट्रपति को अपने कार्यों में सहायता तथा मन्त्रणा के लिए एक मंत्रिमण्डल होगा, जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा। इसके आगे अनुच्छेद- 75(1) में कहा गया है कि, प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के परामर्श पर करेगा। संसदीय लोकतन्त्र की परम्परा के अनुसार राष्ट्रपति लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमंत्री पद पर

नियुक्त करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारे संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करने को बाध्य हो।

अनुच्छेद- 75(5) के अनुसार के कोई भी व्यक्ति संसद का सदस्य हुए बिना छः माह तक मन्त्री पद पर रह सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रधानमन्त्री का नियुक्ति निम्न सदन (लोक सभा) से ही हो। उदाहरण स्वरूप- इन्दिरा गान्धी को जब पहली बार 1966 प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया तो उस समय वे उच्च सदन (राज्य सभा) की सदस्य थीं। ब्रिटेन की संसदीय परम्पराओं के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति ने कभी अपने विवेक का प्रयोग नहीं किया बल्कि बहुमत प्राप्त दल के नेता, किसी दल को बहुमत न मिलने की स्थिति में सबसे बड़े दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

संविधान के उपबन्धों और गत 64 वर्ष के व्यावहारिक अनुभवों से प्रधानमन्त्री के पद और स्थिति की जानकारी के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विस्तृत विचार करना आवश्यक है -

6.2.1 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति

इस बात का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं कि संसदीय परम्परा के अनुरूप राष्ट्रपति लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को, प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है। 1946 की अन्तरिम सरकार में जवाहर लाल नेहरू को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। 1952, 1957 और 1962 के लोक सभा के आम चुनाव में कांग्रेस को सफलता मिली और नेहरू जी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता रहा। 1964 में इनकी मृत्यु के उपरान्त कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य गुलजारी लाल नन्दा को अस्थायी रूप से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। इसके पश्चात कांग्रेस अध्यक्ष कामराज की कुशलता से लाल बहादुर शास्त्री को स्थायी प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया।

1966 में शास्त्री जी की आकस्मिक मृत्यु के उपरान्त एक बार पुनः नेता के चुनाव के प्रश्न पर मतभेद उभरा, क्योंकि कांग्रेस अध्यक्ष कामराज इन्दिरा गाँधी को चाहते थे, जबकि कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य मोरारजी देसाई भी दावेदारी कर रहे थे। फलस्वरूप दल के चुनाव में श्रीमती गाँधी 169 के मुकाबले 355 मतों से विजयी रहीं। दल में इस विभाजन के कारण 1967 के चुनाव में कुछ राज्यों में भारी पराजय का सामना करना पड़ा। कांग्रेस, लोक सभा के 1962 के चुनाव में 361 स्थानों पर विजयी हुई थी, जबकि 1967 में यह संख्या घटकर 283 हो गयी। 1967 के चुनाव के उपरान्त इन्दिरा गाँधी सर्वसम्मति से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त की गयी। दूसरे गुट के सदस्य मोरारजी

देसाई को उप-प्रधानमंत्री और गृहमंत्री के पद पर नियुक्त किया गया। फिर भी मोरारजी देसाई को असन्तोष था और उन्होंने इन्दिरा गाँधी के प्रगतिशील आर्थिक नीतियों का, जैसे- बैंकों के राष्ट्रीयकरण का विरोध किया। 1969 के राष्ट्रपति के चुनाव में तो यह विरोध और भी मुखर होकर सामने आ गया। कांग्रेस के अधिकृत उम्मीदवार नीलम संजीव रेड्डी के खिलाफ श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने निर्दलीय प्रत्याशी वी०वी० गिरी को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करवाया, फलस्वरूप कांग्रेस का विभाजन हो गया। इन्दिरा गुट अल्पमत में आ गयी। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने लोक सभा का विघटन कर दिया। 1971 के पूर्वार्द्ध में लोक सभा के प्रथम मध्यावधि चुनाव हुए। इन्दिरा गुट को भारी सफलता प्राप्त हुई और राष्ट्रपति ने इन्दिरा गाँधी को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया। इस सफलता ने श्रीमती गाँधी को एक शक्तिशाली नेता के रूप में राजनीतिक मंच पर स्थापित कर दिया।

इन्दिरा गाँधी की चुनावी सफलता और समाजवाद के चमत्कारिक नारे ने उनके प्रभाव में ऐसी वृद्धि की कि कांग्रेस के सर्वमान्य नेता के रूप में स्थापित हुई। 1977 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस की पराजय हुई और जनता पार्टी को सफलता मिली। मोरारजी देसाई को, राष्ट्रपति ने, प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया।

जनता पार्टी के सरकार बनाने के समय से ही उसके विभिन्न घटक दलों में मतभेद थे, जो 1977 तक बहुत बढ़ गये। इस स्थिति को देखते हुए जुलाई 1977 में विपक्ष अविश्वास प्रस्ताव ले आया और मोरारजी देसाई ने बिना सामना किये ही प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात सरकार बनाने की विभिन्न संभावनाओं पर विचार करते हुए, चौधरी चरण सिंह को तीन महीने में बहुमत सिद्ध करने की शर्त के साथ सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। परन्तु कांग्रेस पार्टी ने चरण सिंह से अपना समर्थन वापस ले लिया। यह समर्थन चरण सिंह द्वारा लोक सभा में बहुमत सिद्ध करने की तिथि के पहले ही ले लिया गया, परिणामस्वरूप चौधरी चरण सिंह ने लोक सभा का सामना किये बिना ही त्यागपत्र देते हुए राष्ट्रपति से लोक सभा विघटित करने की सिफारिश की। तत्कालीन राष्ट्रपति ने लोक सभा का विघटन करते हुए, चौधरी चरण सिंह को कार्यवाहक प्रधानमंत्री के रूप में रहने दिया।

1980 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस पार्टी को एक बार पुनः आश्चर्यजनक सफलता मिली और श्रीमती गाँधी एक बार पुनः प्रभावशाली प्रधानमंत्री के रूप में स्थापित हुई। किन्तु श्रीमती गाँधी की दुर्भाग्यपूर्ण हत्या (31 अक्टूबर

1984) हो गयी। तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने कांग्रेस संसदीय बोर्ड की सिफारिश पर राजीव गाँधी को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया। चूँकि श्रीमती गाँधी की हत्या के कारण राजीव गाँधी के साथ जनता की बहुत सहानुभूति थी, इसलिए 1984 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस को अब तक सर्वाधिक सीटें प्राप्त हुईं। इस सफलता के केन्द्र में राजीव गाँधी थे, इसलिए राजीव गाँधी का प्रधानमंत्री बनना तय था। भारतीय राजव्यवस्था और प्रधानमंत्री पद के लिए 1989 का लोक सभा चुनाव एक विभाजक चुनाव था। इस चुनाव ने एकदलीय प्रभुत्व का अन्त किया क्योंकि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। जनता दल के वी०पी० सिंह भाजपा सहित अन्य दलों के समर्थन से प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किये गये, किन्तु नवम्बर 1990 में भाजपा के समर्थन वापस लेने की वजह से वी०पी० सिंह सरकार का पतन हो गया। वी०पी० सिंह सरकार के पतन के साथ ही जनता दल का विभाजन हो गया। चन्द्रशेखर सिंह ने कांग्रेस के समर्थन से प्रधानमंत्री पद प्राप्त किया। कांग्रेस के समर्थन वापस लेने कारण चन्द्रशेखर सरकार का भी अल्पायु में ही, जून 1991 में पतन हो गया। 1991 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। मई 1991 राजीव गाँधी की हत्या हो गयी। इस राजनीतिक वातावरण में पी०वी० नरसिंहराव को राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया।

1996 के लोक सभा चुनाव में भी किसी दल को बहुमत नहीं मिला। 13 दलों का सहयोग प्राप्त कर भाजपा के अटलबिहारी वाजपेयी को राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया, किन्तु इस सरकार का कार्यकाल मात्र तेरह दिन ही रहा। इसके पश्चात एच०डी० देवगौड़ा और इन्द्र कुमार गुजराल की कांग्रेस समर्थित सरकारें बनीं जो, अल्पकालिक ही रहीं। 1998 के लोक सभा चुनाव में के पश्चात भाजपा और उसके सहयोगी दलों के नेता अटल बिहारी वाजपेयी पुनः प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त हुए। किन्तु यह सरकार भी स्थायी नहीं रही और पुनः 1999 में लोक सभा के चुनाव में किसी भी दल को बहुमत नहीं प्राप्त हुआ। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा सहित पन्द्रह दलों की गठबंधन सरकार का गठन किया गया। इस गठबंधन सरकार में मंत्री- मण्डल के सदस्यों का चयन प्रधानमंत्री की इच्छा पर निर्भर न होकर, घटक दलों की इच्छा और उनकी सौदेबाजी की स्थिति पर आधारित था।

इसी प्रकार 2004 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस के नेतृत्व में ग्यारह दलों के औपचारिक समर्थन और आठ दलों के बाहर से समर्थन से गठबंधन सरकार का गठन हुआ। इस सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा किया। 2009 के

15वीं लोक सभा चुनाव में पुनः कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार का गठन हुआ। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गठबंधन सरकार में मंत्री-परिषद के गठन में प्रधानमंत्री पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं होते हैं, क्योंकि क्षेत्रीय दल, सरकार को समर्थन अपने हितों की सिद्धि के लिए करते हैं। ऐसे सौदेबाजी के वातावरण में प्रधानमंत्री की स्थिति बहुत मजबूत एवं निर्णायक नहीं हो सकती।

6.2.2 प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल के बीच सम्बन्ध

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 75(1) के अनुसार राष्ट्रपति मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की मंत्रणा से करता है। भारत में भी इंग्लैण्ड के समान संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदीय परम्परा का अनुसरण करते हुए भारत में भी मंत्री पद का चयन प्रधानमंत्री करते हैं, राष्ट्रपति की स्वीकृति एक औपचारिकता होती है। प्रधानमंत्री मंत्रियों के चयन में उस समय शक्तिशाली होता था और उसके निर्णय निर्णायक भी होते थे, जब एक दल बहुमत के आधार पर सरकार का गठन करता था। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में स्थिति काफी हद तक बदल गयी है, क्योंकि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पा रहा है। सरकार के गठन और उसकी स्थिरता के लिए, विभिन्न क्षेत्रीय दलों के सहयोग की आवश्यकता होती है। ये क्षेत्रीय दल सहयोग के बदले में मंत्री पद प्राप्त करने की सौदेबाजी करते हैं। मंत्रियों को विभागों का बंटवारा भी प्रधानमंत्री का विवेकाधिकार होता है, परन्तु मंत्री-परिषद का गठन करते समय उन्हें जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र तथा सहयोगी क्षेत्रीय दलों की निम्न सदन (लोक सभा) में सफल सदस्यों की संख्या को महत्व देना पड़ता है।

6.2.3 प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध

भारतीय प्रशासन में प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के बीच का सम्बन्ध अति महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका होता है, जिनके नाम से सभी कार्य किये जाते हैं। जबकि मंत्री-परिषद वास्तविक कार्यपालिका होती है। प्रधानमंत्री, मंत्री-परिषद को नेतृत्व प्रदान करते हैं। मूल संविधान में यह उपबन्ध था कि राष्ट्रपति, मंत्री-परिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं थे, किन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि राष्ट्रपति, मंत्री-परिषद की सिफारिस मानने के लिए बाध्य है। 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा पुनः पूर्व स्थिति को बहाल कर दिया गया।

राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच सम्बन्ध मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करता है, पहला- राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच का दलीय सम्बन्ध, यदि दोनों एक ही दल के हैं तो दलीय अनुशासन के कारण, सम्बन्ध सामान्य बने रहेंगे। जैसा कि 1977 तक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। दूसरा- राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व और उनके राजनीतिक प्रभाव भी दोनों के बीच के सम्बन्ध को प्रभावित करते हैं। यदि राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमंत्री की भूमिका है तो दोनों के बीच के सम्बन्ध काफी हद तक सामान्य रहे हैं। जैसा कि जाकिर हुसैन, वी0वी0 गिरि, फखरुद्दीन अली अहमद और ज्ञानी जैल सिंह के मामले में हुआ है। किन्तु 31 अक्टूबर 1984 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या हो गयी। इसके पश्चात राजीव गाँधी को राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया। 1986 तक तो सम्बन्ध अच्छे रहे, किन्तु 1987 के प्रारम्भ से दोनों के बीच के संबंधों में कड़वाहट शुरू हुई और ऐसा लगने लगा कि राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह, प्रधानमंत्री राजीव गाँधी को पद से हटाकर लोक सभा का विघटन कर देंगे। संविधान लागू होने के पश्चात ऐसा सर्वप्रथम हुआ कि एक ही दल का होने के बावजूद राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री में गम्भीर मतभेद उभर कर सामने आये।

6.2.4 प्रधानमंत्री और संसद के बीच सम्बन्ध

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। भारत में प्रधानमंत्री की नियुक्ति निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल की जाती है। यद्यपि उच्च सदन से प्रधानमंत्री की नियुक्ति को लेकर कोई कानूनी बन्धन नहीं हैं। हमारे देश में सर्वप्रथम 1966 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी को राज्य सभा के सदस्य के रूप में प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया गया। इसके पश्चात प्रधानमंत्री डॉ0 मनमोहन सिंह भी राज्य सभा सदस्य रहे। प्रधानमंत्री लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होता है, इसलिए सदन का भी नेता होता है। सदन का नेता होने के नाते विपक्ष के अधिकारों के रक्षा की और सदन की कार्यवाही में उनकी भागीदारी हेतु अवसर प्रदान करेंगे। इस हेतु वे विपक्ष से परामर्श करते हैं और उनकी शिकायतों का निराकरण करने का प्रयत्न भी करते हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 75(3) के अनुसार मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तर दायी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मंत्रिमण्डल का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि उसे लोक सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। किन्तु व्यावहारिक स्थिति कुछ और ही है, क्योंकि दलीय अनुशासन के कारण, लोक सभा में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल, मंत्रिमण्डल के विरुद्ध नहीं जा पाता है। संसदीय परम्परा के अनुसार प्रधानमंत्री,

राष्ट्रपति से सिफारिश करके लोक सभा का विघटन करवा सकता है। इस अधिकार के कारण प्रधानमंत्री लोक सभा को नियंत्रित करने में काफी हद तक सफल रहता है। प्रथम लोक सभा के गठन से आज तक 59 वर्षों में कई बार लोक सभा का विघटन समय से पूर्व करते हुए मध्यावधि चुनाव कराये गये।

किस प्रधानमंत्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने विघटन किया-

श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1970
श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1977
चौधरी चरण सिंह	1979
राजीव गाँधी	1984
चन्द्रशेखर सिंह	1991
अटल बिहारी वाजपेयी	1998
अटल बिहारी वाजपेयी	1999

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब किसी एक दल को निरपेक्ष बहुमत रहा है तो लोक सभा पर प्रधानमंत्री का नियंत्रण बहुत ही प्रभावशाली रहा है। परन्तु जब गठबंधन सरकारें रहीं हैं (जैसे 1977, 1989, 1991, 1996, 1998, 1999, 2004 और 2009 में) तब लोक सभा पर नियंत्रण की बात तो दूर की रही, वे स्वयं ही अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हुए दिखाई देते रहे थे।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रधानमंत्री की नियुक्ति की जाती है या निर्वाचित होता है?
2. निम्न सदन का नेता कौन होता है?
3. प्रधानमंत्री की नियुक्ति कौन करता है?
4. भारत की प्रथम प्रधानमंत्री जो राज्य सभा सदस्य थीं?
5. कोई मंत्री बिना संसद सदस्य रहे कितने माह मंत्री रह सकता है?

6.3 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम संसदीय शासन में प्रधानमंत्री की नियुक्ति हेतु अपनायी जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई। साथ ही यह भी देखा कि किस प्रकार से प्रधानमंत्री इस शासन व्यवस्था में बहुत ही शक्तिशाली होकर उभरता है। यहाँ यह भी देखने को मिला कि प्रधानमंत्री मंत्री-परिषद और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करता है और समय- समय पर मंत्री-परिषद द्वारा लिए गये निर्णयों की जानकारी भी राष्ट्रपति को देता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार से इस शासन व्यवस्था में सम्पूर्ण शासन व्यवस्था के केन्द्र में प्रधानमंत्री होता है।

6.4 शब्दावली

मंत्री-परिषद - मंत्रीमण्डल, राज्यमंत्री, उप-मंत्री

निम्न सदन- लोक सभा को कहते हैं।

उच्च सदन- राज्य सभा को कहते हैं।

6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नियुक्ति, 2. प्रधानमंत्री 3. राष्ट्रपति 4. श्रीमती इन्दिरा गाँधी 5. छः माह

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान - ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फाड़िया।

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के प्रधानमन्त्री की पद एवं स्थिति की विवेचना कीजिये।
2. प्रधानमन्त्री की सदन के नेता और सरकार के मुखिया के रूप में महत्व की व्याख्या कीजिये।
3. गठबन्धन सरकारों के युग में प्रधानमन्त्री कमजोर हुआ है या मजबूत, समीक्षा कीजिये।

इकाई- 7 संसद- लोक सभा और राज्य सभा

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 भारतीय संसद

7.3 संसद का संगठन

7.4 राज्य सभा

7.4.1 अवधि

7.4.2 योग्यता

7.4.3 पदाधिकारी

7.4.4 राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ

7.4.5 राज्य सभा के विशेषाधिकार

7.5 लोक सभा

7.5.1 योग्यता

7.5.2 कार्यकाल

7.5.3 संरचना

7.5.4 निर्वाचन

7.5.5 कार्यकाल

7.5.6 अधिवेशन

7.5.7 पदाधिकारी

7.5.8 अध्यक्ष को पद से हटाया जाना

7.5.9 लोक सभा की शक्तियाँ

7.6 संसद की शक्तियाँ

7.7 सारांश

7.8 शब्दावली

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.12 निबन्धात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने यह अध्ययन किया है कि राष्ट्रपति के नाम से जिन शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद करती है। उस मंत्री-परिषद का प्रधान प्रधानमंत्री होता है। प्रधानमंत्री का पद हमारे देश में संसदीय शासन प्रणाली होने के नाते बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होने के नाते इस कारण से सदन का नेता होने के कारण और अन्ततः दलीय अनुशासन के कारण से शासन व्यवस्था को नेतृत्व प्रदान करता है। किन्तु यही शक्तिशाली प्रधानमंत्री की स्थिति, गठबंधन सरकार होने पर अत्यन्त कमजोर हो जाती है फिर भी वह केन्द्रीय सत्ता की धुरी होता है।

इस इकाई में हम संसद के संगठन, कार्यों और शक्तियों का अध्ययन करेंगे। जिसमें हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार से राष्ट्रपति संसद का अंग है और उसके पद में संसदीय शासन की प्रमुख विशेषता का समावेश किया गया है। क्योंकि संसदीय शासन की मुख्य विशेषता, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरूप है, क्योंकि कार्यपालिका के सभी सदस्यों के लिए व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य होता है और राष्ट्रपति के पद में ये दोनों विशेषताएँ पायी जाती हैं, क्योंकि एक तरफ वह कार्यपालिका का प्रमुख होता है तो दूसरी तरफ वह संसद का अंग होता है और कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप नहीं लेता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान कर देता है।

इसके साथ ही साथ हम यह भी अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार कानून निर्माण में राज्य सभा को, लोक सभा के सामान शक्तियाँ न होते हुए भी वह महत्वपूर्ण है।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संसद के संगठन के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- राज्य सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।
- लोक सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।
- अंततः कानून निर्माण में लोक सभा के सापेक्ष राज्य सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।

7.2 भारतीय संसद

जैसा कि हम पहले की इकाइयों में स्पष्ट कर चुके हैं कि ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए हमारे देश में भी संविधान के द्वारा संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। यह संसदीय प्रणाली संघ और राज्य दोनों ही स्तरों पर अपनायी गयी है। संघीय स्तर के विधान निर्मात्री संस्था को संसद कहते हैं। राज्य स्तर पर विधान निर्मात्री संस्था को हम विधानमंडल कहते हैं। प्रस्तुत इकाई में संघीय विधायिनी संस्था संसद का ही अध्ययन करेंगे।

संसद का गठन द्विसदनीय सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, पहला- उच्च सदन, राज्य सभा और दूसरा- निम्न सदन, लोक सभा (जनप्रतिनिधि सदन)। यहाँ पर यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यहीं दोनों सदन मिलकर ही संसद का गठन नहीं करते हैं बल्कि लोक सभा, राज्य सभा और राष्ट्रपति से मिलकर संसद बनती है। चूंकि संसद का मुख्य कार्य कानून निर्माण है और कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप नहीं ग्रहण करता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं मिल जाती है। इसलिए राष्ट्रपति संसद का महत्वपूर्ण अंग है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 79 में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्य सभा और लोक सभा होंगे।

भारतीय संसद के संगठन और उसके कार्यों आदि के सम्बन्ध में भारतीय संविधान के भाग-5 के अध्याय- 2 में अनुच्छेद- 79 से 122 तक प्रावधान किया गया है।

यद्यपि हमने ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए संसदीय शासन प्रणाली अपनायी है, परन्तु भारतीय संसद ब्रिटेन की संसद के समान सर्वशक्तिमान नहीं है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में एक कहावत प्रचलित है कि वह स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने के सिवाय सब कुछ कर सकती है।

7.3 संसद का संगठन

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 79 के अनुसार संघ के लिए संसद होगी, जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी। संसद के अंग- राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा हैं।

राष्ट्रपति संसद का अंग है, जिसकी स्वीकृति के बिना कोई भी विधेयक कानून का रूप नहीं ले सकता है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल द्वारा पांच वर्ष के लिए किया जाता है। निर्वाचक मंडल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य हैं। राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति से एकल संक्रमणीय मत पद्धति के द्वारा किया जाता है। समय से पूर्व वह उपराष्ट्रपति को त्यागपत्र दे सकता है या साबित कदाचार या संविधान के उल्लंघन के आरोप में महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा पद से हटाया जा सकता है। जिसका उल्लेख संविधान के अनुच्छेद- 61 में किया गया है।

7.4 राज्य सभा

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 80 के अनुसार राज्य सभा संसद का उच्च सदन है, जिसकी सदस्य संख्या अधिकतम 250 हो सकती है। (यद्यपि वर्तमान समय में इसमें सदस्य संख्या 245 है।)

250 में से 238 सदस्य राज्यों और संघ-राज्य क्षेत्र से होंगे, जबकि 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे जो साहित्य, कला, विज्ञान, समाज सेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त व्यक्तित्व होंगे। इस उपबन्ध को रखने के पीछे संविधान निर्माताओं की मंशा यह थी कि सदन को समाज के योग्य और अनुभवी लोगों के अनुभव का लाभ प्राप्त हो सके।

भारतीय संविधान की चौथी अनुसूची में राज्य और संघशासित क्षेत्रों से प्रतिनिधियों की 233 संख्या का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से $233+12 =$ (राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत) कुल 245 सदस्य राज्य सभा में हैं। राज्य और संघ-राज्य क्षेत्र में राज्य सभा का प्रतिनिधित्व इस प्रकार है-

राज्य/ संघ राज्य क्षेत्र	स्थानों की संख्या	राज्य/ संघ राज्य क्षेत्र	स्थानों की संख्या
आन्ध्र प्रदेश	10	उत्तर प्रदेश	31
असम	7	उत्तराखंड	3
बिहार	16	पश्चिम बंगाल	16
जम्मू कश्मीर	4	झारखंड	6
गोवा	1	नागालैण्ड	1
गुजरात	11	हिमाचल प्रदेश	3
हरियाणा	5	मणिपुर	1
केरल	9	त्रिपुरा	1
मध्यप्रदेश	11	मेघालय	1
छत्तीसगढ़	5	सिक्किम	1
तमिलनाडु	18	मिजोरम	1
महाराष्ट्र	19	अरुणाचल प्रदेश	1
कर्नाटक	12	दिल्ली	3
उड़ीसा	10	पाण्डिचेरी	1
पंजाब	7	राजस्थान	10

राज्य सभा स्थायी सदन है। इसके सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से एक निर्वाचक मंडल के द्वारा किया जाता है। राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव राज्य विधान सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति से एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार किया जाता है। यहाँ हम यह बताते चलें कि संघ शासित क्षेत्रों में केवल दिल्ली और पॉण्डेचेरी को ही राज्य सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

यद्यपि हमारे देश में संघात्मक शासन प्रणाली अपनायी गयी है, जिसमें उच्च सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, चाहे वे राज्य छोटे हो या बड़े हों। अमेरिका में 50 राज्य हैं, सभी राज्यों से उच्च सदन (सीनेट) में दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। इस प्रकार कुल 100 सदस्य होते हैं, जबकि हमारे यहाँ उच्च सदन (राज्य सभा) में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व न प्रदान कर जनसंख्या के आधार पर प्रदान किया गया है।

7.4.1 अवधि

राज्य सभा एक स्थायी सदन है, जिसका कभी विघटन नहीं होता है। किन्तु इसके एक तिहाई सदस्य दो वर्ष की समाप्ति पर सेवानिवृत्त हो जाते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सदन स्थायी है और इसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष का होता है।

7.4.2 योग्यता

राज्य सभा की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ अपेक्षित हैं-

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. उसकी आयु 30 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो,
3. वह किसी लाभ के पद पर न हो,
4. वह पागल या दिवालिया न हो,
5. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 102 में स्पष्ट उल्लेख है कि संघ अथवा राज्य के मंत्री पद लाभ के पद नहीं समझे जाएंगे।

राज्य सभा के सन्दर्भ में दो पक्ष बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, पहला- राज्य सभा के लिए वह देश के किसी भी प्रदेश का हो, किसी भी प्रदेश में लड़ सकता है और दूसरा- राज्य सभा के लिए मतदान खुला और पारदर्शी होगा।

7.4.3 पदाधिकारी

राज्य सभा में एक सभापति और एक उप-सभापति होता है। उप-राष्ट्रपति ही राज्य सभा के सभापति होते हैं। अनुच्छेद- 89 और राज्य सभा अपने सदस्यों में से ही उप-सभापति का चुनाव करती है। उप-सभापति, सभापति की अनुपस्थिति में सभापति के रूप में कार्य करते हैं।

(अनुच्छेद 91 के अनुसार) सभापति और उप-सभापति को वेतन भारत के संचित निधि से प्रदान किया जाता है। राज्य सभा की गणपूर्ति सदन के सम्पूर्ण सदस्यों की संख्या का 10 प्रतिशत। चूंकि वर्तमान में 245 सदस्य हैं, इसलिए इसकी गणपूर्ति संख्या 25 है।

राज्य सभा के सभापति को सदन को सुचारु संचालन हेतु व्यापक अधिकार प्राप्त होते हैं। जब सभापति और उप-सभापति दोनों अनुपस्थित हों तो राज्य सभा के सभापति के कार्यों का निर्वहन राज्य सभा का वह सदस्य करेगा, जिसे राष्ट्रपति नामित करेगा।

7.4.4 राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ

राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. **विधायी शक्तियाँ-** राज्य सभा, लोक सभा के साथ मिलकर कानून निर्माण का कार्य करती है। साधारण विधेयकों(अवित्तीय विधेयकों) के सम्बन्ध में राज्य सभा को लोक सभा के समान शक्तियाँ प्राप्त हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से किसी में भी पहले पेश किया जा सकता है। दोनों सदनों द्वारा पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। यद्यपि अधिकांश विधेयकों को लोक सभा में ही पहले प्रस्तुत किया जाता है। यदि विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार कर लिया जाए और दूसरा सदन छः माह तक अपनी स्वीकृति नहीं देता है, तो राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आहूत करता है। इस संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोक सभा के अध्यक्ष करते हैं। इसमें निर्णय बहुमत से होता है। सैद्धान्तिक रूप से तो दोनों सदनों को समान शक्तियाँ हैं। परन्तु व्यवहारतः लोक सभा के सदस्यों की संख्या अधिक होती है, इसलिए लोक सभा का निर्णय ही निर्णायक होता है।
2. **संविधान संशोधन की शक्ति-** संविधान संशोधन हेतु दोनों सदनों को समान शक्तियाँ प्राप्त हैं, क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक भी संसद के दोनों सदनों में से किसी में भी पेश किया जा सकता है। वे तभी पारित माने जाएंगे, जब दोनों सदनों ने अलग-अलग संविधान में उल्लिखित रीति से पारित किया हो, अन्यथा नहीं। क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक के सन्दर्भ में दोनों सदनों में विवाद की स्थिति में किसी प्रकार से संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार यदि राज्य सभा संशोधन से असहमत है तो वह संशोधन विधेयक गिर जाएगा।
3. **वित्तीय शक्तियाँ -** वित्तीय शक्तियों के सन्दर्भ में राज्य सभा की स्थिति, लोक सभा के समक्ष अत्यन्त निर्बल है, क्योंकि कोई भी वित्तीय विधेयक केवल लोक सभा में ही पेश किया जा सकता है। जब कोई वित्त विधेयक लोक सभा द्वारा पारित होने के पश्चात राज्य सभा में पेश किया जाता है तो राज्य सभा

अधिकतम 14 दिन तक उस विधेयक पर विचार करते हुए अपने पास रोक सकती है। उसके विचार को लोक सभा माने या न माने यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि राज्य सभा के विचार को लोक सभा न माने तो 14 दिन की समाप्ति पर विधेयक उसी रूप में पारित समझा जाएगा, जिस रूप में उसे लोक सभा ने पारित किया था।

4. कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ - जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली प्रचलित है। इसमें कार्यपालिका, निम्न सदन (लोक सभा) के प्रति सामूहिक रूप से उत्तर दायी होती है, न कि राज्य सभा के प्रति। इसलिए राज्य सभा के सदस्य विभागीय मंत्रियों से प्रश्न, पूरक प्रश्न, तारांकित और अतारांकित प्रश्न पूछ सकते हैं, परन्तु मंत्री-परिषद के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव नहीं ला सकते हैं। इस प्रकार की शक्ति केवल लोक सभा के पास है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कार्यपालिका शक्तियों के सन्दर्भ में राज्य सभा, लोक सभा से बहुत ही निर्बल है।

5. अन्य शक्तियाँ- ऊपर हमने राज्य सभा की शक्तियों का अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शक्तियाँ भी राज्य सभा के पास हैं-

- राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्य सभा के निर्वाचित सदस्य भाग लेते हैं।
- उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्य सभा के सभी सदस्य (निर्वाचित+मनोनीत) 233+12 भाग लेते हैं।
- राज्य सभा लोक सभा के साथ मिलकर बहुमत से उप-राष्ट्रपति को पदच्युत करती है।
- जब देश में आपातकाल लागू हो, तो उसे एक माह से अधिक और संवैधानिक तन्त्र की विफलता की घोषणा हो तो उसे दो माह से अधिक लागू करने हेतु, लोक सभा के साथ राज्य सभा के द्वारा भी स्वीकृति आवश्यक होती है।
- लोक सभा के साथ मिलकर राज्य सभा राष्ट्रपति व सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी पदमुक्त करती है।

7.4.5 राज्य सभा के विशेषाधिकार

उपरोक्त शक्तियों के अतिरिक्त राज्य सभा की कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग वह अकेले करती है, वे निम्नलिखित हैं-

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 112 में उल्लिखित है कि, यदि राज्य सभा अपने दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे कि नई अखिल भारतीय सेवा के सृजन किया जाना है, तो तभी अखिल भारतीय सेवा के पद सृजित होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि राज्य सभा इस तरह के प्रस्ताव न पारित करे, तो केन्द्र सरकार नई अखिल भारतीय सेवा का सृजन नहीं कर सकती है।
2. इसी प्रकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 249 में उल्लिखित है कि, यदि राज्य सभा के, सदन में उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्य राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दें, तो उस पर संसद को कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का प्रस्ताव प्रारम्भ में केवल एक वर्ष के लिए ही होता है, परन्तु राज्य सभा की इच्छा से इसे बार-बार एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य सभा द्वितीय सदन है तो, साथ ही दूसरे स्तर के महत्व का भी सदन है।

7.5 लोक सभा

जैसा कि हम पहले भी पढ़ चुके हैं कि लोक सभा संघीय संसद का निम्न सदन है, जिसे लोकप्रिय सदन या जनप्रतिनिधि सदन भी कह सकते हैं, क्योंकि इनका निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रीति से वयस्क मताधिकार (18 वर्ष की आयु के भारतीय) के द्वारा किया जाता है। भारतीय संविधान में इस बात का प्रावधान है कि लोक सभा में राज्यों से अधिकतम 530 सदस्य हो सकते हैं। 20 सदस्य संघ शासित क्षेत्रों से तथा 02 सदस्य आंग्ल-भारतीय समुदाय के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जा सकते हैं। इस प्रकार लोक सभा में अधिकतम सदस्यों की संख्या 552 हो सकती है।

7.5.1 योग्यता

- वह भारत का नागरिक हो।

- वह भारतीय नागरिक 25 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।
- संघ सरकार या राज्य सरकार के अधीन, वह किसी लाभ के पद पर न हो।
- वह, पागल या दिवालिया न हो।

इसके अतिरिक्त अन्य योग्यताएँ जिसका निर्धारण समय-समय पर संसद करे।

7.5.2 कार्यकाल

मूल संविधान के अनुसार लोक सभा का कार्यकाल 5 वर्ष था। परन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा इसका कार्यकाल 6 वर्ष कर दिया गया। परन्तु पुनः 44वें संवैधानिक संशोधन 1978 के द्वारा लोक सभा के कार्यकाल को घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया। अब इसका कार्यकाल 5 वर्ष का होता है। किन्तु समय से पूर्व भी लोक सभा का विघटन किया जा सकता है। इस प्रकार 1970, 1977, 1979, 1990, 1997, 1999 और 2004 में समय पूर्व लोक सभा विघटन किया गया।

राष्ट्रपति लोक सभा का अधिवेशन बुलाते हैं। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि लोक सभा की दो बैठकों के बीच अन्तराल अर्थात् बैठक की अन्तिम तिथि और दूसरी बैठक की प्रथम तिथि के बीच अन्तराल 6 मास से अधिक नहीं होना चाहिए। राज्य सभा के समान इसकी गणपूर्ति भी समस्त सदस्यों का दसवाँ भाग है।

7.5.3 संरचना

प्रथम आम चुनाव के समय (1952) लोक सभा के सदस्यों की निर्धारित संख्या 500 थी। 31वें संवैधानिक संशोधन 1974 के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि इनकी अधिकतम संख्या 552 हो सकती है। जिनमें 530 सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होंगे, जो राज्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे। जबकि 20 सदस्य संघ-राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे। इसके साथ ही साथ 2 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जा सकते हैं। यदि राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि आंग्ल-भारतीय समुदाय को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त है। परन्तु व्यवहार में वर्तमान समय में 545 सदस्य हैं, जिनमें 530 राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं, 13 संघ-राज्य क्षेत्रों से और 2 राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य हैं।

7.5.4 निर्वाचन

लोक सभा के सदस्यों का निर्वाचन भारतीय नागरिकों द्वारा सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। मूल संविधान के अनुसार मताधिकार हेतु न्यूनतम उम्र 21 वर्ष रखी गयी थी, जबकि 61वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा इस आयु को घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी। अर्थात् 18 वर्ष की आयु का भारतीय नागरिक अपनी पसन्द के प्रत्याक्षी को मतदान कर सकता है।

7.5.5 कार्यकाल

लोक सभा की अवधि का निर्धारण उसकी बैठक की तिथि से किया जाता है। अपनी बैठक की प्रथम तिथि से 05 वर्ष की अवधि होती है। परन्तु भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 83(2) के अनुसार राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सिफारिश पर 5 वर्ष के पूर्व भी विघटित कर सकता है। किन्तु यह विघटन अवधि 06 माह से अधिक नहीं हो सकती है। अर्थात् विघटन के 06 माह बीतने के पूर्व ही लोक सभा का निर्वाचन हो जाना चाहिए। इस प्रकार के उपबन्ध को रखने का कारण यह कि लोक सभा के दो सत्रों के बीच की अवधि 06 माह से अधिक का नहीं होनी चाहिए।

7.5.6 अधिवेशन

एक वर्ष में लोक सभा के कम से कम दो अधिवेशन होने चाहिए। साथ ही पिछले अधिवेशन की अन्तिम तिथि और आगामी अधिवेशन की प्रथम तिथि के बीच का अन्तराल 6 माह से अधिक का नहीं होना चाहिए। परन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह अवधि एक ही स्थिति में 6 माह से अधिक हो सकती है, जब आगामी अधिवेशन के पूर्व लोक सभा विघटित हो जाय।

7.5.7 पदाधिकारी

लोक सभा में दो मुख्य पदाधिकारी होते हैं, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष। अपने सभी सदस्यों में से ही लोक सभा अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष, अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हैं। परन्तु यदि दोनों अनुपस्थित हों तो सदन का वह व्यक्ति अध्यक्ष के दायित्वों का निर्वहन करेगा, जिसे राष्ट्रपति इस हेतु नियुक्त करे।

अध्यक्ष के द्वारा शपथ, अध्यक्ष के रूप में नहीं बरन् लोक सभा के सदस्य के रूप में ग्रहण किया जाता है। यह शपथ उसे लोक सभा का कार्यकारी अध्यक्ष (प्रोटेम स्पीकर) दिलाता है, जो सदन का सबसे वरिष्ठ सदस्य होता है। इस परम्परा का अनुसरण फ्रान्स की परम्परा से लिया गया है।

7.5.8 अध्यक्ष को पद से हटाया जाना

लोक सभा के समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित प्रस्ताव के द्वारा, अध्यक्ष को हटाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्ताव रखने के 14 दिन पूर्व सूचना देना आवश्यक है। यहाँ यह पक्ष महत्वपूर्ण है कि जब अध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव विचाराधीन हो तो अध्यक्ष, लोक सभा की अध्यक्षता नहीं करेगा।

7.5.9 लोक सभा की शक्तियाँ

हमारे देश में लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली अपनायी गयी है। जिसका तात्पर्य है कि अन्तिम रूप से सत्ता जनता में निहित है। लोक सभा जनप्रतिनिधि सदन है, क्योंकि इनके सदस्यों का निर्वाचन जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। इसलिए लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों और परम्पराओं के अनुरूप लोक सभा को राज्य सभा की अपेक्षा शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया है, इसलिए संसद में लोक सभा, राज्य सभा और राष्ट्रपति से मिलकर होता है। अब हम लोक सभा के कार्यों और शक्तियों का अध्ययन करेंगे।

1. **विधायी शक्ति-** जैसा कि हम पहले ऊपर देख चुके हैं कि साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में लोक सभा और राज्य सभा को समान शक्ति प्राप्त है। यह विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। और यह तभी पारित समझा जाएगा जब दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग पारित हो। परन्तु वित्तीय विधेयक को लोक सभा में ही पेश किया जा सकता है। साथ ही वित्त विधेयक उसी रूप में पारित हो जाता है, जिस रूप में लोक सभा चाहती है, क्योंकि लोक सभा द्वारा पारित वित्त विधेयक को राज्य सभा केवल 14 दिन रोक सकती है। इसके पश्चात वह उसी रूप में पारित समझा जाएगा, जिस रूप में उसे लोक सभा ने पारित किया था। राज्य सभा के किसी भी संशोधन को स्वीकार करना या अस्वीकार करना लोक सभा की इच्छा पर निर्भर है।
2. **कार्यपालिका शक्ति-** भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से लिखा है कि भारत की संघीय कार्यपालिका सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तर दायी है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि उसी दल को

सरकार बनाने का अधिकार होगा और उसी दल के नेता को राष्ट्रपति प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करेगा, जिसे लोक सभा में समस्त सदस्यों का बहुमत प्राप्त हो और सरकार तभी तक अस्तित्व में रहती है, जब तक उसको लोक सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। मंत्री-परिषद प्रश्न पूछकर, पूरक प्रश्न, अविश्वास प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव, कटौती प्रस्तावों के माध्यम से नियंत्रण रखते हैं।

3. **संविधान संशोधन की शक्ति-** संविधान संशोधन के महत्वपूर्ण कार्य में भी लोक सभा को शक्तियाँ प्राप्त हैं। संविधान संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में पेश किए जा सकते हैं और यह तभी पारित समझा जाएगा, जब दोनों सदन अलग-अलग संविधान में वर्णित रीति से पारित करें।

महत्वपूर्ण तथ्य यह है, इस सम्बन्ध में संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान नहीं है। इसलिए दोनों की शक्तियाँ समान हैं।

4. **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य-** लोक सभा, राज्य सभा के साथ मिलकर उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन तथा राज्य सभा और राज्य विधान सभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करती हैं।

7.6 संसद की शक्तियाँ

भारतीय संसद यद्यपि ब्रिटिश संसद के समान सर्वशक्तिमान नहीं है। परन्तु देश की सर्वोच्च विधायी संस्था है, जिसकी प्रमुख शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. **कानून निर्माण की शक्तियाँ-** शासन के तीन अंग होते हैं। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जो क्रमशः कानून निर्माण, कार्यकारी कार्य और न्यायिक कार्य करते हैं। संसद को संघ सूची, समवर्ती सूची और अवशिष्ट शक्तियों पर कानून निर्माण का अधिकार है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यसूची के विषयों पर भी कानून निर्माण का अधिकार है-

- जब राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा चल रही हो।
- जब राज्य सभा, अनुच्छेद- 249 के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से राज्य सूची के विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर संसद से विधि निर्माण हेतु आग्रह करें।

- जब दो या दो से अधिक राज्य विधानमंडल द्वारा प्रस्ताव पारित कर राज्य सूची के विषय पर कानून निर्माण हेतु संसद से आग्रह करें।
- 2. **कार्यकारी कार्य-** संसद का अंग लोक सभा होती है। जिसके बहुमत प्राप्त दल के नेता को ही राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री बनने के लिए आमंत्रित करता है और प्रधानमंत्री उन्हीं में से अपने मंत्री-परिषद का गठन करते हैं। अनुच्छेद- 75 (3) के अनुसार मंत्री-परिषद लोक सभा के प्रति उत्तर दायी होती है।
- 3. **वित्तीय कार्य-** संसद ही संघ के वित्त पर नियंत्रण रखती है। वित्त का नियमन करने में संसद की भूमिका निर्णायक होती है। जिसमें उसकी दो महत्वपूर्ण समितियां, लोकलेखा समिति और प्राक्कलन समिति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भारत के संचित निधि से धन, संसद की स्वीकृति से ही प्राप्त हो सकता है। वार्षिक बजट और रेल बजट संसद के समक्ष पेश किया जाता है। उक्त के साथ-साथ संसद विनियोग विधेयक, अनुपूरक अनुदान, अतिरिक्त अनुदान, लेखानुदान आदि के सम्बन्ध में निर्णायक शक्ति है।
- 4. **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य-** नए राज्य के गठन, उसकी सीमा और नाम में परिवर्तन का अधिकार संसद को है। इसके तहत वह एक राज्य को विभाजित कर सकती है, दो या दो से अधिक राज्यों को मिलाकर एक राज्य बना सकती है।

संविधान के अनुच्छेद- 61 में स्पष्ट उल्लेख है कि संसद साबित कदाचार या संविधान के अतिक्रमण के आरोप में राष्ट्रपति पर विशेष प्रक्रिया से महाभियोग लगा सकती है। इसी प्रकार उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी पदच्युत कर सकते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संसद की शक्तियाँ व्यापक है। परन्तु वे अमर्यादित नहीं हैं, क्योंकि भारतीय संसद अपनी सीमाओं में ही कार्य करती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राष्ट्रपति संसद का अंग है। सत्य/असत्य
2. संसद, राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है। सत्य/असत्य
3. राज्य सभा संसद का जन प्रतिनिधि सदन है। सत्य/असत्य
4. लोक सभा के सदस्यों का जनता के द्वारा निर्वाचन किया जाता है। सत्य/असत्य

5. राज्य सभा का कार्य कल 06 वर्ष है। सत्य/असत्य
6. राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव जनता करती है। सत्य/असत्य
7. राज्य सभा में वर्तमान समय में 543 सदस्य है। सत्य/असत्य

7.7 सारांश

इस इकाई में हमने संसद के संगठन और कार्यों का अध्ययन किया है, जिसमें हमने यह देखा है कि किस प्रकार से राष्ट्रपति संसद का अंग है और उसके पद में संसदीय शासन की प्रमुख विशेषता का समावेश किया गया है। संसदीय शासन की मुख्य विशेषता, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरूप है, क्योंकि कार्यपालिका के सभी सदस्यों के लिए व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य होता है और राष्ट्रपति के पद में ये दोनों विशेषताएं पायी जाती हैं। राष्ट्रपति एक तरफ कार्यपालिका का प्रमुख होता है, तो दूसरी तरफ वह संसद का अंग होता है। कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप नहीं लेता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान कर देता है।

साथ ही हमने इस इकाई में यह भी अध्ययन किया है कि राज्य सभा प्रथम दृष्टया तो कानून निर्माण में सामान दिखाई देती है, परन्तु संवैधानिक संशोधन विधेयक के अतिरिक्त सामान्य विधेयक और वित्तीय विधेयक के मामले में स्थिति गौण है, क्योंकि राज्य सभा सामान्य विधेयक को अधिकतम 06 माह तक रोक सकती है और वित्त विधेयक को केवल 14 दिन तक रोक सकती है, इसके पश्चात वह उसी रूप में पारित होगा, जिस रूप में लोक सभा चाहेगी। राज्य सभा की आपत्तियाँ उस विधेयक पर कोई निर्णायक प्रभाव नहीं छोड़ सकती हैं, फिर भी जल्दबाजी में कोई विधेयक न पारित हो, उसके सभी पक्षों पर विचार हो सके, इस दृष्टि से राज्य सभा अति महत्वपूर्ण सदन है।

7.8 शब्दावली

संसद- राष्ट्रपति + राज्य सभा + लोक सभा

नाम मात्र की कार्यपालिका- संसदीय शासन प्रणाली में नाम मात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में अंतर पाया जाता है। नाम मात्र की कार्यपालिका वह होता है, जिसमें संवैधानिक रूप से सभी शक्तियाँ निहित

होती हैं, परन्तु उन शक्तियों का वह स्वयं प्रयोग नहीं करता है, वरन् मंत्री-परिषद् करती है। भारत में नाम मात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति और ब्रिटेन में सम्राट होते हैं।

वास्तविक कार्यपालिका- यह वह कार्यपालिका है, जो नाम मात्र की कार्यपालिका को प्रदान की गयी शक्तियों का प्रयोग उसके नाम से करती है। जैसे भारत और ब्रिटेन में मंत्री-परिषद्।

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. असत्य, 3. असत्य, 4. सत्य, 5. असत्य, 6. असत्य, 7. असत्य

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन-बी०एल० फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन-अवस्थी एवं अवस्थी।

7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी०डी० बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस०सी० सिंहल।

7.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संसद के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिये।
2. लोक सभा और राज्य सभा की संरचना और उनकी शक्तियों की विस्तार से चर्चा कीजिए।

इकाई- 8 केन्द्रीय सचिवालय, मंत्रिमंडलीय सचिवालय, प्रधानमन्त्री सचिवालय

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 केन्द्रीय सचिवालय

8.2.1 केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा

8.2.2 केन्द्रीय सचिवालय का संगठन

8.2.3 केन्द्रीय सचिवालय के कार्य

8.2.4 केन्द्रीय सचिवालय की कार्य-प्रणाली की आलोचना

8.2.5 केन्द्रीय सचिवालय में सुधार के लिए सुझाव

8.3 अवधि प्रणाली

8.3.1 अवधि प्रणाली के पक्ष में तर्क

8.3.2 अवधि प्रणाली के विपक्ष में तर्क

8.4 मंत्रिमंडलीय सचिवालय (कैबिनेट) सचिवालय

8.4.1 मंत्रिमंडलीय सचिवालय के कार्य

8.4.2 मंत्रिमंडलीय सचिव

8.4.2.1 मंत्रिमंडलीय सचिवालय एवं मंत्रिमण्डल सचिव की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव

डालने वाले कारण

8.4.2.2 मंत्रिमंडलीय सचिवालय के पुनर्गठन और क्षमता विकास के लिए सुझाव

8.5 प्रधानमन्त्री कार्यालय

8.5.1 प्रधानमन्त्री कार्यालय के कार्य

8.6 सारांश

8.7 शब्दावली

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.11 निबन्धात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु कई मंत्रालयों एवं विभागों का गठन किया गया है, जिनसे मिलकर केन्द्रीय सचिवालय का निर्माण होता है। मंत्रियों द्वारा सचिवालय से विचार-विमर्श करके नीतियों का निर्माण किया जाता है।

मंत्रिमण्डल सचिवालय की स्थापना एक ऐसे प्रशासनिक संस्थान के रूप में की गयी है, जो मंत्रिमण्डल के कार्यों में सहयोग देने के लिए है। मंत्रिमंडलीय सचिवालय देश के एक नीति-निर्माण अभिकरण के रूप में स्थापित किया गया है।

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण व्यावहारिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। सरकार के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री को शासन कार्यों में कार्यालयीन सहायता करने के लिए 15 अगस्त 1947 को प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्यालय का निर्माण उन कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया है, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत सचिव द्वारा किया जाता था।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।
- मंत्रिमंडलीय सचिवालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।
- प्रधानमन्त्री कार्यालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।

8.2 केन्द्रीय सचिवालय

भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु कई मंत्रालयों एवं विभागों में विभाजित किया गया है, जिनसे मिलकर केन्द्रीय सचिवालय का निर्माण होता है। मंत्रियों द्वारा सचिवालय से विचार-विमर्श करके नीतियों का निर्माण किया जाता है। नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए संलग्न, अधीनस्थ तथा क्षेत्रीय कार्यालय होते हैं। इस प्रकार सचिवालय एक अवधारणा है, जिसका अभिप्राय केन्द्र सरकार के स्तर पर गठित मंत्रालयों एवं विभागों के समुच्चय से है, जिनका राजनीतिक अध्यक्ष मंत्री होता है एवं प्रशासनिक अध्यक्ष सचिव होता है।

8.2.1 केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा

केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा दो विचारधाराओं पर आधारित है-

1. **राजनीतिक-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा-** जिसके अन्तर्गत नीति-निर्माण को नीति क्रियान्वयन से पृथक किया गया है। इसके अन्तर्गत सचिवालय की भूमिका को नीति निर्धारण से जोड़ा गया है एवं क्रियान्वयन हेतु क्षेत्रीय संस्थान का निर्माण किया गया है।
2. **अवधि प्रणाली की विचारधारा-** केन्द्रीय सचिवालय केन्द्र सरकार के मुख्यालय की हैसियत से नीति-निर्माण के लिए उत्तर दायी है, परन्तु नीति के क्रियान्वयन के लिए केन्द्रीय सचिवालय के अन्तर्गत क्षेत्रीय संस्थान का निर्माण किया गया है। केन्द्र सरकार के स्तर पर क्षेत्रीय संस्थान मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं-

- **संबंधित कार्यालय या संलग्न कार्यालय-** इसके दो मौलिक कार्य हैं। पहला, नीति-निर्माण की प्रक्रिया में तकनीकी परामर्श प्रस्तुत करना एवं दूसरा, नीति के क्रियान्वयन का परिवीक्षण करना।
- **अधीनस्थ कार्यालय-** यह केन्द्र सरकार की नीति के वास्तविक एवं क्रियान्वयन के लिए उत्तर दायी माना गया है।

इन दोनों के अतिरिक्त क्षेत्रीय संस्थान निम्नांकित प्रकार के भी हो सकते हैं, जैसे - विभागीय उपक्रम, लोक निगम, सरकारी कम्पनी आदि। ये तीनों मौलिक स्वरूप हैं, जिनके माध्यम से सरकार वाणिज्यिक एवं व्यावसायिक कार्यों का संचालन करती है।

8.2.2 केन्द्रीय सचिवालय का संगठन

केन्द्रीय सचिवालय में अनेक मंत्रालय और विभाग हैं, जिनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है। इसके संगठन को निम्नांकित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

पदाधिकारी	स्तर
मंत्री	मंत्रालय का राजनीतिक अध्यक्ष
सचिव	मंत्रालय का प्रशासनिक अध्यक्ष
विशेष या अतिरिक्त सचिव	-----
अधिकारी वर्ग संयुक्त सचिव	उपविभाग का अध्यक्ष
उपसचिव/निदेशक	प्रभाग का अध्यक्ष
अवर सचिव	शाखा
अनुभाग अधिकारी	अनुभाग
सहायक	अनुभाग अधिकारी का सहायक
कार्यालय	ग्रुप- 'ब' कर्मचारी,

इस प्रकार निदेशक तथा उपसचिव के पदों को समान स्तर का मानते हुए केन्द्रीय सचिवालय के ढाँचे को सचिव से लेकर निम्न श्रेणी तक 09 ग्रेडों में रखा गया है। सचिवालय में अधिकारियों की ये श्रेणियाँ 'अधिकाधिक सिद्धान्त' पर आधारित हैं, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक श्रेणी के अधिकारी का यह कर्तव्य है कि वह जितना अधिक कार्य कर सके, उतना करे और केवल महत्वपूर्ण मामले ही उच्च स्तर पर पहुँचे।

अधिकारी वर्ग प्रायः भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य होते हैं। इन अधिकारियों की भर्ती केन्द्रीय सरकार के द्वारा विभिन्न राज्यों की भारतीय प्रशासनिक सेवा श्रेणियों में से कार्यकाल पद्धति के अन्तर्गत की जाती है। यह पद्धति 1905 से लार्ड कर्जन के समय शुरू हुई। इस वर्ग में भर्ती के दूसरे स्रोत, केन्द्रीय सचिवालय सेवा का गठन 1951 में किया गया। केन्द्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारियों को मंत्रालयों एवं विभागों से इसलिए सम्बद्ध किया जाता है, ताकि सचिवालय के कार्यों में निरन्तरता बनी रहे। सन् 1957 से केन्द्रीय सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु केन्द्रीय स्टाफिंग योजना प्रारम्भ की गयी है।

8.2.3 केन्द्रीय सचिवालय के कार्य

सरकारी हैण्डबुक के अनुसार सचिवालय के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं-

1. नीति का निर्धारण तथा समय-समय पर आवश्यकतानुसार नीति के संशोधन में मंत्री की सहायता करना।
2. नियम, विधान तथा विनियम बनाना।
3. क्षेत्रीय कार्यक्रम और योजना तैयार करना।
4. मंत्रालय या विभाग के कार्यों के सन्दर्भ में बजट तैयार करना और व्यय पर नियन्त्रण करना।
5. प्रारम्भ होने वाले कार्यक्रमों और योजनाओं की वित्तीय तथा प्रशासनिक अनुमति देना और उनमें आवश्यक संशोधन करना।
6. कार्यपालिका विभागों एवं अर्द्ध स्वायत्त क्षेत्रीय अभिकरणों द्वारा निर्मित नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण करना।
7. नीतियों की व्याख्या करना एवं उनमें समन्वय लाना।
8. मंत्रालय या विभाग में कार्यरत कर्मचारियों एवं संगठन की क्षमता बढ़ाने के लिए कदम उठाना।
9. मंत्री को उसके संसदीय उत्तर दायित्व को पूरा करने में सहायता देना।

इस प्रकार सचिवालय एक प्रशासनिक परामर्शदात्री निकाय है। वह एक ओर तो नीति-निर्धारक, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, तो दूसरी ओर सरकार का प्रमुख कार्यपालिका निकाय ही है।

8.2.4 केन्द्रीय सचिवालय की कार्य-प्रणाली की आलोचना

भारत में सचिवालय प्रशासन की रीढ़ है। फिर भी सचिवालय की कार्यप्रणाली की निम्नांकित आधारों पर आलोचना की जाती है-

1. अनावश्यक रूप से बढ़ता हुआ आकार।
2. सचिवालय के कर्मियों की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि कि वह एक भीड़ भरा संगठन बन गया है।
3. अत्यन्त खर्चिला।
4. विलम्बकारी प्रक्रिया।
5. विलम्ब की समस्या से प्रजातंत्र के स्वरूप में भ्रष्टाचार का उदय।

6. सचिवालय यद्यपि नीति-निर्माण करने वाली संस्था है, तथापि आज-कल यह कार्यकारी विभागों के कार्यों का संचालन अधिकाधिक मात्रा में करने लगा है। परिणामस्वरूप एक ओर तो सचिवालय अपना ध्यान नीति-निर्माण के कार्य पर केन्द्रित नहीं कर पाता और दूसरी ओर कार्यकारी इकाइयों की शक्ति में हास होता जा रहा है।
7. वर्तमान समय में सचिवालय अपना क्षेत्राधिकार बढ़ाने की मनोवृत्ति से पीड़ित।
8. सचिवालय के कार्यकारी अपने आपको इकाइयों के कार्मिकों से अधिक योग्य मानने की प्रवृत्ति से पीड़ित दिखाई देते हैं।

8.2.5 केन्द्रीय सचिवालय में सुधार के लिए सुझाव

भारत सरकार सचिवालय के दोषों को दूर करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रही है। प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझावों पर आवश्यकतानुसार अमल किया गया है, जैसे-

1. निर्णय प्रक्रिया में पदसोपानों की संख्या में कमी करने की दिशा में कदम उठाए गये हैं।
2. निम्न स्तर पर प्रशासनिक कुशलता लाने के लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है।
3. सचिवालय में अनावश्यक नियुक्तियों को तथा अनावश्यक व्ययों को हतोत्साहित किया जा रहा है।
4. कर्मचारियों की पदोन्नति के नये नियम लागू हो रहे हैं और यह समझा जाने लगा है कि वरिष्ठ पदों को भरने के लिए आयु को अनावश्यक महत्व न दिया जाए।
5. यह भी सुझाव दिया गया है कि एक मंत्रालय के साथ संलग्न सचिव को दो वर्ष के स्थान पर लगातार पांच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए।

इस के अतिरिक्त सचिवालय की कार्य-पद्धति को सरल एवं गतिमान बनाया गया है और लालफीताशाही को समाप्त करने पर जोर दिया जा रहा है। सचिवालय सुधार के लिए कुछ सुझाव निम्नांकित हैं-

- सचिवालय की कार्य प्रणाली को अधिक गति देने के लिए यह आवश्यक है कि सचिवालय केवल नीति-निर्माण का ही कार्य करे।
- सचिवालय के कार्यों में कुशलता लाने के लिए विभागाध्यक्ष, सचिव तथा मंत्री तीनों के मध्य की दूरीयाँ कम की जाए।

- प्रशासनिक विभागों की अध्यक्षता हेतु विशेषज्ञ अधिकारियों को प्राथमिकता दी जाए।

8.3 अवधि प्रणाली

‘अवधि प्रणाली’ का प्रारम्भ लार्ड कर्जन के द्वारा 1905 में की गया। इसके अन्तर्गत क्षेत्रीय संस्थान के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारियों को एक निर्धारित अवधि के लिए मुख्यालय के स्तर पर पद स्थापित किया जाता था। आजादी के उपरान्त ‘अवधि प्रणाली’ से राज्य सरकार के स्तर पर कार्य कर रहे अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों को एक निश्चित समय तक कन्द्रीय सचिवालय में पद स्थापित किया जाता है। अपने इस कार्यकाल को पूरा करने के उपरान्त उन्हें पुनः संबधित राज्य सरकार की सेवा में वापिस भेज दिया जाता है।

8.3.1 अवधि प्रणाली के पक्ष में तर्क

अवधि प्रणाली के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं-

1. अवधि प्रणाली से केन्द्र एवं राज्य के बीच अधिक प्रभावी प्रशासनिक समन्वय प्राप्त किया जा सकता है।
2. अवधि प्रणाली केन्द्र एवं राज्य सरकार दोनों के लिए लाभकारी है। केन्द्र सरकार अधिक वास्तविक तरीके से स्थानीय अनुभव के आधार पर नीति का निर्माण कर सकती है, क्योंकि राज्य सरकार के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारियों के पास जिला प्रशासन का वास्तविक अनुभव होता है। राज्य सरकार इन अधिकारियों के माध्यम से अपनी प्रशासनिक गतिविधियों में व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्राप्त कर सकती है।
3. भारतीय प्रशासन में समरूपता प्राप्त करने के दृष्टिकोण से अवधि प्रणाली का विशेष योगदान है।
4. अवधि प्रणाली देश की एकता एवं अखण्डता बनाये रखने में सहयोगी है।
5. अवधि प्रणाली की विचारधारा भारतीय संघवाद की विचारधारा से मेल रखती है।
6. अवधि प्रणाली अधिकारियों के बीच समानता के अवसर उपलब्ध कराती है।
7. राज्य सरकार के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारी अधिक राजनीतिक निष्पक्षता के साथ अपने कार्यों का संचालन कर सकते हैं। अर्थात् लोक सेवा के स्वतंत्र एवं निष्पक्ष कार्यों के सन्दर्भ में अवधि प्रणाली की भूमिका महत्वपूर्ण है।

8. अवधि प्रणाली के माध्यम से केन्द्र सरकार अपनी नीतियों पर जनता की सामान्य प्रतिक्रिया को प्राप्त कर सकती है।

8.3.2 अवधि प्रणाली के विपक्ष में तर्क

अवधि प्रणाली के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं-

1. जब राज्य प्रशासन के अधिकारी केन्द्रीय सचिवालय के अन्तर्गत किसी पद को ग्रहण करते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में संबंधित मंत्रालय की कार्य-पद्धति से परिचित न होने के कारण उस अधिकारी की निर्भरता कार्यालय पर बनी रहती है। अतः जिस अवधि प्रणाली के माध्यम से अधिकारियों की कार्यकुशलता को अधिक करने का प्रयास किया गया है, उससे वैसा हो पाना सम्भव नहीं हो रहा है।
2. केन्द्र सरकार के स्तर पर कुछ ऐसी गतिविधियाँ संचालित की जाती हैं, जिनमें जिला प्रशासन का स्थानीय अनुभव अनिवार्य नहीं है। अतः ऐसे क्षेत्रों में अवधि प्रणाली की उपयोगिता काफी सीमित हो जाती है।
3. कई परिस्थितियों में ऐसा भी देखने को मिलता है कि राज्य प्रशासन के अधिकारी जब अवधि प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्र सरकार के स्तर पर सेवा प्रदान करने जाते हैं, तो इसके उपरान्त पुनः राज्य प्रशासन की सेवा में वापस जाने में दिलचस्पी नहीं रखते। अतः अवधि प्रणाली के माध्यम से जो लाभ राज्य प्रशासन को होना चाहिए, वह सम्भव नहीं हो पाता।
4. केन्द्रीय सचिवालय सेवा को स्थापित करने के उपरान्त अनुभाग अधिकारी पदोन्नति के माध्यम से उच्चतर अधिकारी वर्ग में शामिल किये जाते हैं। ऐसा होने के कारण अवधि प्रणाली के अन्तर्गत राज्य प्रशासन के अधिकारियों को सीमित अवसर प्राप्त होते हैं।
5. अवधि प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय सचिवालय के स्तर पर आने वाले अधिकारियों की संख्या में अनिश्चितता बनी रहती है।
6. सचिवालय सेवा के अधिकारियों के पदोन्नति के अवसर कम होते हैं। मनोबल प्रभावित होता है और समन्वय की समस्या होती है।

8.4 मंत्रिमंडलीय सचिवालय (कैबिनेट) सचिवालय

मंत्रिमंडलीय सचिवालय की स्थापना एक ऐसे प्रशासनिक संस्थान के रूप में की गयी है, जो मंत्रिमण्डल के कार्यों में सहयोग देने के लिए है। मंत्रिमंडलीय सचिवालय को देश के एक नीति-निर्माण अभिकरण के रूप में स्थापित किया गया है। भारतीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल प्रमुख नीति निर्माण कर्ता अभिकरण है। अतः मंत्रिमण्डल सचिवालय के द्वारा सरकार की नीतियों का अंतिम निर्धारण किया जाता है।

मंत्रिमण्डल प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में अपने कार्यों को सम्पन्न करता है। प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल के अध्यक्ष के रूप में मंत्रिमंडलीय सचिवालय से परामर्श एवं सहयोग प्राप्त करता है, जिसकी अध्यक्षता मंत्रिमंडलीय सचिव के द्वारा की जाती है। मंत्रिमंडलीय सचिव पूरे देश का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी है। विभिन्न मंत्रालयों के बीच समन्वय को प्राप्त करने के लिए मंत्रिमंडलीय सचिवालय को उत्तर दायी माना गया है।

जब प्रधानमंत्री सरकार के अध्यक्ष के रूप में अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं, तो दैनिक प्रशासनिक सहयोग प्रधानमंत्री कार्यालय के द्वारा प्रदान किया जाता है। ऐसी स्थिति में मंत्रिमंडलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री कार्यालय के बीच आजादी के उपरान्त ही समय-समय पर विवादास्पद मुद्दे उठते रहे हैं। संसदीय प्रणाली की विचारधारा के अनुसार भारतीय शासन में मंत्रिमंडलीय सचिवालय की भूमिका निर्णायक होनी चाहिए। परन्तु प्रधानमंत्री के बदलते हुए व्यक्तित्व के सन्दर्भ में मंत्रिमंडलीय सचिवालय की निर्णायक भूमिका प्रधानमंत्री कार्यालय में देखने को मिलती है।

मंत्रिमंडलीय सचिवालय सीधे प्रधानमंत्री के अधीन कार्य करता है। इसका सचिव, कैबिनेट सचिव होता है जो कि प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिए अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं।

8.4.1 मंत्रिमंडलीय सचिवालय के कार्य

कैबिनेट या मंत्रिमंडलीय सचिवालय केन्द्रीय प्रशासन का केन्द्र-बिन्दु है। भारत में कैबिनेट की कार्यकुशलता तथा प्रशासन की सुव्यवस्था बहुत हद तक मंत्रिमंडलीय सचिवालय की क्षमता पर निर्भर करती है। मंत्रिमंडलीय सचिवालय के कार्यों का विवरण निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जा सकता है-

1. **मंत्रिमंडलीय सचिवालय के रूप में-** केन्द्रीय मंत्रिमण्डल तथा उसकी समितियों को दैनिक कार्य से संबंधित सचिवालय सहायता प्रदान कराना। कैबिनेट की बैठकों की कार्यसूची तैयार करना, वाद-विवाद तथा निर्णयों का अभिलेख रखना। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल, उसकी समितियों, राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति को विभिन्न सरकारी संस्थाओं से संबंधित आवश्यक सूचनाएँ उपलब्ध कराना। मंत्रिमण्डल की बैठकों के निर्णयों की सूचना संबंधित विभागों को पहुँचाना।
2. **प्रारम्भकर्ता के रूप में-** इस रूप में कैबिनेट सचिवालय तीन प्रकार के प्रारम्भिक कार्य करता है। पहला- मंत्री-परिषद के मंत्रियों की नियुक्तियाँ, उनके बीच विभागों के वितरण, शपथ ग्रहण, त्याग-पत्र आदि से संबंधित समस्त कार्य। दूसरा- ऐसे कानूनों का निर्माण करना जो सरकार के कार्यों को सुविधापूर्वक सम्पन्न करने में सहायता करते हों। तीसरा- सरकार की नीतियों को लागू करने तथा उनमें समन्वय लाने से सम्बन्धित विभागों की देखरेख रखना।
3. **समन्वयकर्ता विभाग के रूप में-** केन्द्रीय प्रशासनिक स्तर पर कैबिनेट सचिवालय एक प्रमुख समन्वय संस्था है। इस रूप में यह निम्नांकित कार्य करता है- भारत सरकार में कार्यरत विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, समितियों आदि के बीच समन्वय स्थापित करना। सरकार की प्रमुख नीतियों और गतिविधियों में समन्वय। केन्द्र सरकार एवं विभिन्न राज्य सरकारों के बीच समन्वय। कैबिनेट सचिव विभिन्न समितियों का अध्यक्ष होने के नाते विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
4. **मंत्रिमण्डल के निर्णयों को क्रियान्वित करने के रूप में-** प्रधानमन्त्री तथा मंत्रियों को समय-समय पर महत्वपूर्ण विषयों से संबंधित नीतियों के निरूपण एवं निष्पादन के विषय में परामर्श देना। मंत्रिमण्डल के समक्ष प्रस्तुत सभी विषयों के सम्बन्ध में मंत्रिमण्डल की सहायता और कार्यवाही करना। जैसे- संसद में व्यवस्थापन के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्ताव तैयार करना, सार्वजनिक जाँच समितियों की नियुक्ति, संसद के अधिवेशन प्रारम्भ करने और समाप्त करने आदि पर विचार, विदेशों के साथ सन्धियाँ एवं समझौते इत्यादि।

कैबिनेट सचिवालय का एक महत्वपूर्ण कार्य यह देखना भी है कि मंत्रिमण्डल या उसकी समितियों द्वारा लिये गये निर्णय लागू हो रहे हैं या नहीं। इस कार्य हेतु यह सचिवालय मासिक प्रतिवेदन तैयार करता है।

इस प्रकार प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्रिमंडलीय सचिवालय का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में धीरे-धीरे कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है। फिर भी मंत्रिमण्डल सचिवालय, मंत्रिमण्डल के सचिवालय सम्बन्धी कार्यों के लिए स्टाफ, भुजा के समान है। अतः उसे सरकारी कार्यों का सम्पादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं मान लेना चाहिए।

8.4.2 मंत्रिमंडलीय सचिव

मंत्रिमंडलीय सचिवालय का मंत्रिमंडलीय (कैबिनेट) सचिव होता है, जो प्रधानमन्त्री के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रहता है। कैबिनेट सचिव द्वारा मंत्रिमंडलीय सचिवालय की एवं सचिवों के सम्मलेन की अध्यक्षता की जाती है। कैबिनेट सचिव भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठतम सदस्य होता है। इसे भारतीय प्रशासन का सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न एवं प्रतिष्ठित पद माना जाता है।

प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार, योग्यतम एवं वरिष्ठतम अधिकारियों को ही कैबिनेट सचिव बनाया जाता है। इस पद को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि इसकी अवधि तीन या चार वर्ष की हो। कैबिनेट सचिव को अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के वेतन का अधिकतम वेतनमान दिया जाये। आयोग के अनुसार महत्वपूर्ण नीति निर्धारक विषयों में उसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, क्योंकि वह प्रधानमन्त्री, मंत्रिमण्डल तथा मंत्रिमंडलीय समितियों का प्रमुख सलाहकार होता है।

देशमुख टीम के अनुसार इस पद को अन्य सचिवों की तुलना में अधिक वेतनमान दिया जाए। यह टीम इस पद के क्रियान्वयन के तरीके से संतुष्ट नहीं थी और उसने इस पद की गरिमा एवं भूमिका में सुधार के लिए अनेक सिफारिशें की। जैसे -

1. दो या अधिक मंत्रालयों के बीच मतभेद की स्थिति में उन मामलों को कैबिनेट सचिव के पास भेजा जाना चाहिए।
2. कौन सा मामला किस मंत्रालय से संबंधित है, इसका निराकरण कैबिनेट सचिव पर छोड़ देना चाहिए। साथ ही कैबिनेट सचिव को समय-समय पर अन्य सचिवों से सम्पर्क स्थापित करते रहना चाहिए।

8.4.2. मंत्रिमंडलीय सचिवालय एवं मंत्रिमंडलीय सचिव की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले कारण

1. मंत्रिमंडलीय सचिव को प्रधानमन्त्री का अपेक्षित संरक्षण न मिलना।
2. मंत्रियों और सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों में पारस्परिक हितों के लिए गठजोड़, जिसका प्रभाव मंत्रिमंडलीय सचिव के समन्वय सम्बन्धी कार्यों पर पड़ता है।
3. कार्मिक प्रशासन मंत्रालय का प्रधानमन्त्री के नियंत्रण में रखा जाना और कई महत्वपूर्ण विषयों के सन्दर्भ में इस मंत्रालय का हस्तक्षेप में मंत्रिमण्डल सचिव की उपेक्षा।
4. प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के पश्चात कई बार प्रधानमन्त्री की मंत्रिमंडलीय सचिवालय के बजाय प्रधानमन्त्री कार्यालय पर अधिक निर्भरता।
5. कई अवसरों पर मंत्रिमंडलीय सचिवों की नियुक्ति, सेवा विस्तार कार्य आदि के सम्बन्ध में राजनीतिक हस्तक्षेप।

8.4.2.2 मंत्रिमंडलीय सचिवालय के पुनर्गठन और क्षमता के विकास के लिए सुझाव

मंत्रिमंडलीय सचिवालय एक प्रभावकारी समन्वयकर्ता निकाय है। किन्तु यह प्रभावशाली समन्वय में उतना सक्षम नहीं हो पाता है। इसके पुनर्गठन और क्षमता के विकास के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं-

1. प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार सांख्यिकी विभाग को वित्तीय विभाग में मिला देना चाहिए तथा सैन्य शाखा को रक्षा मंत्रालय को सौंप देना चाहिए। ऐसा करने से इस सचिवालय के पास अधिकांशतः मंत्रिमण्डल मामलों से सम्बंधित विभाग ही बचे रहेंगे।
2. कैबिनेट सचिव के पद का कार्यकाल तीन या चार साल किया जाना चाहिए।
3. मंत्रिमंडलीय सचिव की नियुक्ति के पहले विभिन्न पदों पर प्राप्त प्रशासनिक अनुभव, जैसे किसी राज्य में मुख्य सचिव की भूमिका आदि पर ध्यान देना चाहिए।
4. मंत्रिमंडलीय सचिव की नियुक्ति के लिए वरिष्ठता के साथ-साथ योग्यता, प्रभावशीलता, कर्तव्य-निष्ठा इत्यादि को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

5. मंत्रिमंडलीय सचिव की नियुक्ति, सेवा-विस्तार आदि के सन्दर्भ में राजनैतिक कारकों को कम से कम किया जाना चाहिए।
6. प्रधानमन्त्री कार्यालय और मंत्रिमंडलीय सचिवालय के कार्य-क्षेत्र को और अधिक स्पष्ट किया जाना चाहिए।
7. मंत्रिमंडलीय सचिवालय एवं सचिव को प्रधानमन्त्री का उपयुक्त संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

8.5 प्रधानमन्त्री कार्यालय

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण व्यावहारिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। सरकार के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री को शासन कार्यों में कार्यालयीय सहायता करने के लिए 15 अगस्त, 1947 को प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्यालय का निर्माण उन कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया है, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत सचिव द्वारा किया जाता था। ज्ञातव्य है कि प्रधानमन्त्री ने इसी तिथि से वह सभी कार्य अपने हाथों में लिए, जो इसके पहले गवर्नर जनरल, सरकार की कार्यपालिका के प्रमुख के रूप में किया करता था।

आजादी के उपरान्त पंडित नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। नेहरू संसदीय प्रजातान्त्रिक विचारधारा का आदर करते थे एवं मंत्रिमण्डल के सामूहिक निर्णय पर विश्वास करते थे। अतः प्रधानमन्त्री कार्यालय का सम्बन्ध सीमित दैनिक प्रशासनिक कार्यों से था, जो कि प्रधानमन्त्री को सरकार के अध्यक्ष के रूप में चाहिए था। अतः इस समय महत्व की दृष्टि से प्रधानमन्त्री कार्यालय, कैबिनेट सचिवालय के बाद आता था और प्रधानमन्त्री कार्यालय को निर्णयकारी भूमिका प्राप्त नहीं थी।

जब लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री बने, तब उनके पास प्रशासनिक दक्षता नहीं थी। अतः शास्त्री जी ने कार्यालय की भूमिका को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस समय प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका देश के उच्चतर नीति निर्णयक अभिकरण के रूप में स्थापित हुई और शास्त्री जी के कार्यालय में एलके झा जैसे प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले प्रशासनिक अधिकारी को प्रधानमन्त्री कार्यालय का सचिव नियुक्त किया। झा काफी प्रभावशाली हो गये और उन्हें 'सुपर सचिव' की संज्ञा दी जाने लगी। शास्त्री जी के समय यह अत्यन्त शक्तिशाली होकर उभरा और प्रधानमन्त्री कार्यालय का नामकरण प्रधानमन्त्री सचिवालय कर दिया गया।

इन्दिरा गाँधी द्वारा प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण करते समय उनके पास भी प्रशासनिक अनुभव तथा ज्ञान नहीं था, अतः स्वाभाविक रूप से उनकी निर्भरता प्रधानमन्त्री सचिवालय पर अधिक थी। देश की आर्थिक नीति एवं विदेश नीति जैसी जटिल विषय वस्तु पर इन्दिरा गाँधी काफी हद तक प्रधानमन्त्री सचिवालय पर निर्भर करती थी। ऐसी दशा में इन्दिरा गाँधी के प्रधानमंत्री काल में शास्त्री जी द्वारा शुरू की गयी परम्परा को और अधिक प्रोत्साहन मिला और इस समय प्रधानमन्त्री सचिवालय के आकार एवं भूमिका दोनों में वृद्धि हुई, विशेष कर राष्ट्रीय आपातकाल के समय प्रधानमन्त्री सचिवालय एक वास्तविक प्रशासनिक सत्ता के एक अतिरिक्त संवैधानिक केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। प्रधानमन्त्री सचिवालय एक निर्णायक अभिकरण के रूप में स्थापित हुआ एवं मंत्रिमण्डल सचिवालय एक ऐसा अभिकरण बन गया, जिसका कार्य प्रधानमन्त्री सचिवालय के निर्णयों को लागू करना था।

‘जनता सरकार’ के समय प्रधानमन्त्री सचिवालय का नामकरण पुनः प्रधानमन्त्री कार्यालय के रूप में किया गया। इसकी भूमिका सत्ता एवं आकार दोनों की दृष्टि से सीमित करते हुए मंत्रिमंडलीय सचिवालय को एक उचित नीति निर्णायक अभिकरण माना गया तथा प्रधानमन्त्री कार्यालय की राष्ट्रीय मामलों में नीति निर्धारण की कोई भूमिका नहीं रही। यहाँ तक ‘राँ’ संगठन को भी इससे हटा दिया गया। कैबिनेट सचिवालय का कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग जो लोक सेवाओं पर नियंत्रण रखता है, पहले के समान गृह मंत्रालय को और राजस्व जाँच विभाग, वित्त मंत्रालय को लौटा दिया गया।

1980 में इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमन्त्री बनी और उनके द्वारा जनता सरकार के समय किये गये अनेक कार्यों में परिवर्तन किये गये। साथ ही प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका में बढ़ोत्तरी भी हुई, लेकिन प्रधानमन्त्री कार्यालय वह स्थान प्राप्त न कर सका जो उसे पहले प्राप्त था।

1984 में राजीव गाँधी के प्रधानमन्त्री बनने के उपरान्त प्रधानमन्त्री कार्यालय के प्रमुख प्रशासनिक विषय वस्तुओं पर परामर्शदाताओं की नियुक्ति की गयी, जिससे भारतीय प्रशासनिक तंत्र में प्रधानमन्त्री कार्यालय का प्रभाव अधिक हुआ। राजीव गाँधी के पास भी प्रशासनिक दक्षता की कमी होने के कारण प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता बनी रही। अतः इस समय मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों दृष्टियों से विस्तार हुआ और वह अपनी खोई शक्ति एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त करने में सफल हुआ।

नरसिम्हा राव के प्रधानमंत्रित्व काल में विशेषकर अंतिम वर्षों में प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका पुनः अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। नरसिम्हा राव के द्वारा एक अल्पमत सरकार का नेतृत्व किया गया। अतः प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता का अत्यधिक होना स्वाभाविक था।

इण्डिया टुडे के अनुसार वाजपेयी जी के नेतृत्व में प्रधानमन्त्री कार्यालय केवल सजावटी चीज बन कर रह गया है। वैसे सर्वशक्तिमान प्रधानमन्त्री कार्यालय को निष्प्रभाव करने का फैसला खुद वाजपेयी ने किया था। वाजपेयी के मित्रों का मानना है कि प्रधानमन्त्री ने निगरानी और सुधार-तंत्र को प्रभावी तरीके से विकसित किए बगैर अपने मंत्रियों को आजादी देकर गलती की। इससे जहाँ नियमों की चकाचौंध और उनका असर खत्म हो गया, वहीं वाजपेयी जी की निजी छवि को चोट पहुँची। इसकी वजह आर्थिक मामले हैं, जहाँ वाजपेयी जी कमजोर पड़ जाते हैं, लेकिन धीरे-धीरे प्रधानमन्त्री की सरकार पर पकड़ मजबूत होने के साथ ही प्रधानमन्त्री कार्यालय की एवं प्रधानमन्त्री के प्रधान सचिव ब्रजेश मिश्र की भूमिका क्रमशः बढ़ती जा रही है। वर्तमान समय में रक्षा, विदेश के अतिरिक्त अन्य कई मामलों में प्रधानमन्त्री का हस्तक्षेप देखा जा सकता है एवं प्रधानमन्त्री कार्यालय तथा प्रधान सचिव गतिविधियों में प्रत्यक्ष रूप से भूमिका निभाते नजर आ रहे हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वाजपेयी का जी प्रधानमन्त्री कार्यालय विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा था।

वर्तमान समय में संयुक्त सरकार की विचारधारा के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री एक राजनैतिक असुरक्षा की भावना में कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता आंकना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त संयुक्त सरकार में कई अन्य राजनैतिक दलों के सदस्यों को मिलाकर मंत्री-परिषद का निर्माण किया जाता है। अतः प्रधानमन्त्री विश्वसनीय परामर्शों के लिए प्रधानमन्त्री कार्यालय पर ज्यादा निर्भर होते हैं। लेकिन संयुक्त सरकार में प्रधानमन्त्री सन्तुलन एवं अवरोध के नियम के अन्तर्गत अपने कार्यों का संचालन करते हैं। ऐसी अवस्था में प्रधानमन्त्री की तुलना में मंत्रिमण्डल का विशेष महत्व होता है। अतः मंत्रिमंडलीय सचिवालय की भूमिका का विशेष महत्व होना स्वभाविक है।

संयुक्त सरकार के सन्दर्भ में प्रधानमन्त्री कार्यालय गोपनीय विचार हेतु प्रधानमन्त्री के लिए एक आरक्षित एवं सुरक्षित स्थान नहीं माना जाता है। अतः सत्ता का हस्तांतरण प्रधानमन्त्री कार्यालय के निवास (PMR) की ओर देखने को मिल रहा है।

आज भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री कार्यालय का न केवल महत्व बढ़ा है, बल्कि उसकी अहम भूमिका है। आज यह असाधारण रूप से शक्तिशाली संगठन है, जिससे अनेक विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय जो केन्द्रीय सचिवालय संगठनों में सबसे छोटा है, मंत्रिमण्डल सचिवालय से भी बड़ा हो गया है। वस्तुतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के सचिव की भूमिका मित्र, मार्गदर्शक और परामर्शदाता जैसी हो तो वह अधिक उपयोगी होगा। लेकिन यदि प्रधानमन्त्री कार्यालय समान्तर सरकार का प्रतिरूप ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसके प्रशासनिक दृष्टि से लाभकारी परिणाम नहीं होंगे।

प्रधानमन्त्री अपनी पसन्द के किसी भी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त कर सकते हैं और यह पद कार्यकाल पद्धति से मुक्त है। उपसचिव और उसे उपर के पदों पर नियुक्ति मंत्रिमण्डल की नियुक्ति समिति की स्वीकृति से होती है। अवर सचिव और नीचे के पद गृह मंत्रालय द्वारा भरे जाते हैं। पांचवे वेतन आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार प्रधानमन्त्री कार्यालय में वर्तमान समय कुल मिलाकर 483 स्वीकृत पद हैं। साधारणतः प्रधानमन्त्री के पदाधिकारियों का वही स्तर होता है, जो शासन के मंत्रालयों में तदनुरूप श्रेणी के पदाधिकारियों का होता है।

8.5.1 प्रधानमन्त्री कार्यालय के कार्य

साधारणतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के क्षेत्राधिकार में वे सभी विषय आते हैं, जो कि व्यक्तिगत विभाग या मंत्रालय को नहीं सौंपे गये हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय की निम्नांकित भूमिकाएँ हैं-

1. प्रधानमन्त्री को सरकार के अध्यक्ष के रूप में या मुख्य कार्यापालिका के रूप में कार्य करते समय प्रधानमन्त्री कार्यालय, प्रधानमन्त्री को सहयोग देता है।
2. यदि कोई प्रशासनिक विषय वस्तु किसी मंत्री को न सौंपी गयी हो, तो उस विषय-वस्तु का कार्यभार प्रधानमन्त्री पर होता है एवं उन विषय वस्तुओं पर प्रधानमन्त्री कार्यालय, प्रधानमन्त्री को सहयोग देता है।
3. प्रधानमन्त्री को योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में उत्तर दायित्व निभाने में सहायता करना।
4. इस कार्यालय के माध्यम से प्रधानमन्त्री अन्य केन्द्रीय मंत्रियों, राष्ट्रपति, राज्यपालों, मुख्यमंत्रियों, राजदूतों आदि से सम्पर्क स्थापित करता है।

5. यदि जनता की कोई शिकायत प्रधानमंत्री के पास भेजी जाए, तो प्रधानमंत्री कार्यालय उन शिकायतों का निराकरण सुनिश्चित करता है।
6. प्रधानमंत्री कार्यालय में संसद में सामान्य विषयों पर पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है, जिन्हें किसी मंत्रालय को नहीं सौंपा गया है।
7. प्रधानमंत्री के आवश्यक रिकार्ड रखना, उनके अतिथियों के स्वागत-सत्कार की व्यवस्था करना तथा प्रधानमंत्री द्वारा मांगी गयी सूचना प्रदान करना प्रधानमंत्री कार्यालय के उत्तर दायित्व हैं।
8. प्रधानमंत्री के आदेश एवं संदेश को मंत्रिमण्डलीय सचिवालय को सूचित करना भी प्रधानमंत्री कार्यालय का कार्य है। आजकल यह प्रधानमंत्री के महत्वपूर्ण भाषण तैयार करने, राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्था की देख-रेख करने तथा प्रधानमंत्री के विदेश यात्रा के कार्यक्रम बनाने का भी कार्य करने लगा है।

इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़, सूखा आदि के समय या अन्य अवसरों पर प्रधानमंत्री कोष से राज्यों या व्यक्तियों को जो आर्थिक सहायता पहुँचायी जाती है, उसका लेखा-जोखा भी प्रधानमंत्री कार्यालय रखता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. केन्द्रीय सचिवालय सेवा का गठन 1951 में किया गया। सत्य/असत्य
2. भारतीय प्रशासनिक सेवा में अवधि प्रणाली 1905 से लार्ड कर्जन के समय शुरू हुई। सत्य/असत्य
3. राजीव गाँधी 1984 में प्रधानमंत्री नियुक्त किये गये थे। सत्य/असत्य

8.6 सारांश

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि, सचिवालय एक प्रशासनिक परामर्शदात्री निकाय है। वह एक ओर तो नीति निर्धारक, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, तो दूसरी ओर सरकार का प्रमुख कार्यपालिका निकाय भी है। इसके साथ ही प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्रिमंडलीय सचिवालय का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रधानमंत्री कार्यालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में धीरे-धीरे कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है, फिर भी मंत्रिमंडलीय सचिवालय, सम्बन्धी कार्यों के लिए स्टाफ भुजा के समान है। अतः उसे सरकारी कार्यों का सम्पादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं मान लेना चाहिए।

आज भारतीय प्रशासन में प्रधानमंत्री कार्यालय का न केवल महत्व बढ़ा है, बल्कि उसकी अहम भूमिका है। आज यह असाधारण रूप से शक्तिशाली संगठन है, जिससे अनेक विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं। प्रधानमंत्री कार्यालय जो केन्द्रीय सचिवालय संगठनों में सबसे छोटा था, अब मंत्रिमंडलीय सचिवालय से भी बड़ा हो गया है। वस्तुतः प्रधानमंत्री कार्यालय के सचिव की भूमिका मित्र, मार्गदर्शक और परामर्शदाता जैसी हो, तो वह अधिक उपयोगी होगा। लेकिन यदि प्रधानमंत्री कार्यालय समान्तर सरकार का प्रतिरूप ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसके प्रशासनिक दृष्टि से लाभकारी परिणाम नहीं होंगे।

8.7 शब्दावली

सचिवालय- सरकार को नीति-निर्माण में सहयोग करने वाला निकाय है। नीति-निर्माण के उपरान्त उसके क्रियान्वयन के सम्बन्ध में प्रमुख कार्यपालिका निकाय है।

प्रधानमंत्री कार्यालय- प्रधानमंत्री को उनके कार्यों के सम्पादन में (कार्यपालिका प्रमुख के रूप में) सहयोग करने वाला निकाय है।

मंत्री-मण्डलीय सचिवालय- भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, समितियों के बीच समन्वय स्थापित करने वाला निकाय है।

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य 2. सत्य 3. सत्य

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ० रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

8.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान - ब्रज किशोर शर्मा।

-
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।

8.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।
2. मंत्रिमंडलीय सचिवालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. प्रधानमन्त्री कार्यालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 9 राजनीति और प्रशासन में सम्बन्ध

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 राजनीति का अर्थ एवं महत्व

9.3 राजनीति की चिरसम्मत धारणा

9.4 राजनीति की आधुनिक धारणा

9.5 राजनीतिक स्थिति की विशेषताएं

9.6 प्रशासन

9.7 राजनीति एवं प्रशासन में सम्बन्ध

9.8 सारांश

9.9 शब्दावली

9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.13 निबन्धात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

राजनीतिक चिंतक, आज के युग में राजनीति को मनुष्यों की एक विशेष गतिविधि मानता है। मनुष्यों की यह गतिविधि समाज के विभिन्न समूहों के माध्यम से व्यक्त होती है। इसके क्षेत्र में वही सत्ता आती है, जिसका प्रयोग या तो वह स्वयं करता है, या शासन को प्रभावित करने के लिए करता है।

वर्तमान में शासन को प्रभावित करने के लिए जन लोकपाल एवं भ्रष्टाचार पर राजनीति विशेष रूप से हो रही है। प्रशासन का अर्थ कार्यों को प्रबन्ध करने से है। यद्यपि राजनीति एवं प्रशासन के सम्बन्ध को इस अध्याय में विस्तृत चर्चा की गयी है।

प्रशासन एवं राजनीति एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों में ही सत्ता एवं शक्ति का प्रयोग होता है। पूर्व में दोनों में काफी अन्तर एवं भेद की चर्चा होती थी, परन्तु वर्तमान में यह भेद लगभग समाप्त हो चुका है और दोनों ही एक-दूसरे के अंगीकार बन गये हैं।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनीति के अर्थ एवं महत्व को जान सकेंगे।
- राजनीति की चिर-सम्मत धारणा को जान सकेंगे।
- राजनीतिक स्थिति की विशेषताओं के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- राजनीति एवं प्रशासन में सम्बन्ध में जान सकेंगे।

9.2 राजनीति का अर्थ एवं महत्व

‘राजनीति’ शब्द का व्यवहार सामाजिक समूह के लिए किया जाता है, जो क्लबों और परिवार जैसे छोटे मानव समूहों से लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ तक व्याप्त है। मानव समाज में यूनानी दार्शनिक प्लेटो से लेकर अब तक के जितने भी चिंतक आदर्श लोक की कल्पना करते रहे हैं, वे सभी अंत में समाज के राजनीतिक पुनर्गठन की बात किसी न किसी रूप में करते हैं। सामाजिक सहयोग, संघर्ष और प्रतिस्पर्धा नामक गतिविधियों को राजनीति कहते हैं।

अरस्तू ने कहा है, कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। इसका अर्थ है कि मनुष्य किसी न किसी राज्य(पोलिस) के अन्तर्गत रहता है। अर्थात् एक सामूहिक सत्ता के माध्यम से अपने जीवन को व्यवस्थित करता है, ताकि एक नैतिक प्राणी के नाते वह सद्जीवन और आत्म-सिद्धि प्राप्त कर सके। अतः अरस्तू की दृष्टि में राजनीति, मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को समेट लेती है। मनुष्यों की गतिविधियाँ समाज के विभिन्न समूहों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। जैसे- राजनीतिक दलों के द्वारा, राष्ट्रों में यह गतिविधि शांति के समय राजनय के रूप में व्यक्त होती है और अशांति के

समय युद्ध के रूप में परन्तु युद्ध राजनीति का उपयुक्त तरीका नहीं है। युद्ध का सहारा तब लिया जाता है, जब राजनीति विफल हो जाती है। युद्ध के नियमों का पालन राजनीति का विषय अवश्य है। निष्कर्ष में राजनीतिक गतिविधि 'शक्ति के संघर्ष' के रूप में व्यक्त होती है। यह संघर्ष अनेक राष्ट्रों के बीच हो सकता है, एवं एक ही राष्ट्र के भीतर विभिन्न समूहों के बीच भी चल सकता है। दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा की स्थिति में, समाज के दुर्लभ संसाधनों पर अपना प्रभुत्व और नियंत्रण स्थापित करने के प्रयास को राजनीति की संज्ञा दी जाती है। राजनीति के क्षेत्र में सत्ता वह कहलाती है, जिसका प्रयोग या तो शासन स्वयं करता है या जिसका प्रयोग शासन को प्रभावित करने के लिए होता है। अरस्तू की प्रसिद्ध रचना 'पालिटिक्स' में इस तर्क का खंडन भी किया है कि सत्ता का स्वरूप एक ही होता है। परन्तु सभी तरह की सत्ता एक जैसी नहीं होती है। मैक्स वेबर जो जर्मन समाज वैज्ञानिक थे, उन्होंने भी सत्ता को वैधानिक एवं तार्किक बताया है। अरस्तू ने सत्ता, शक्ति को राजनीतिक सम्बन्ध का आवश्यक लक्षण माना है। वहीं मैक्स वेबर ने भी सत्ता के प्रयोग क्षेत्र की ओर संकेत किया है।

'राजनीति' शब्द दैनिक जीवन में बहुत प्रचलित है। राजनीतिक गतिविधियों को लेकर समाज मानता है कि इसका सरोकार केवल सार्वजनिक क्षेत्र से है। अर्थात् सांसदों, विधायकों, चुनावों और मंत्रिमण्डल से है। आम आदमी राजनीति को संकुचित दायरे में रखकर सोचता है। वह तो इसे या तो केवल मंत्रियों और विधायकों की गतिविधि समझ लेता है, या राजनितिज्ञों का चातुर्यपन और चुनाव पैतरो के साथ जोड़ता है। परन्तु यदि हम राजनीति से घृणा करते हुए उससे दूर भागेंगे तो यह डर है कि राजनीति सचमुच गलत लोगों के हाथों में चली जायेगी और सार्वजनिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकेगा। वर्तमान में राजनीति ऐसे ही लोगों के द्वारा की जा रही है।

9.3 राजनीति की चिरसम्मत धारणा

प्लेटो, अरस्तू एवं उनके समकालिक विचारकों का मत है कि राज्य मनुष्य के जीवन के लिए अस्तित्व में आता है और सद्जीवन के लिए बना रहता है। राज्य के बगैर किसी मनुष्य को मनुष्य रूप में नहीं पहचाना जा सकता। राज्य में सद्जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य जो कुछ भी करता है, जिन-जिन गतिविधियों में भाग लेता है एवं जो नियम संस्थाएँ और संगठन को निर्मित करता है उन सबको अरस्तू ने राजनीति का विषय माना है। इसे ही राजनीति की चिरसम्मत धारणा कहते हैं। मनुष्य के समस्त सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन राजनीति के अन्तर्गत होता था। अरस्तू ने राजनीति को सर्वोच्च विज्ञान का रूतवा दिया। मानव समाज के

अन्तर्गत विभिन्न सम्बन्धों को व्यवस्थित करने में राजनीति निर्णायक भूमिका निभाती है। परन्तु आज के युग में राजनीति जन-साधारण के समर्थन पर आश्रित हो गयी है। इसलिए यह जन-साधारण के जीवन के साथ निकट से जुड़ गयी है।

9.4 राजनीति की आधुनिक धारणा

राजनीति की चिरसम्मत धारणा के विपरीत, आज के युग में राजनीति के प्रयोग का क्षेत्र तो सीमित हो गया है, परन्तु इसमें भाग लेने वालों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। राजनीति के अध्ययन में मनुष्य के सामाजिक जीवन की समस्त गतिविधियों पर विचार नहीं किया जाता, बल्कि केवल उन गतिविधियों पर विचार किया जाता है, जो सार्वजनिक नीति और सार्वजनिक निर्णयों को प्रभावित करती हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सार्वजनिक नीतियाँ और निर्णय इन गिने-चुने शासकों, विधायकों या सत्ताधारियों की इच्छा को व्यक्त नहीं करते, बल्कि समाज के भिन्न-भिन्न समूहों की परस्पर क्रिया के फलस्वरूप उभरकर सामने आते हैं। इस तरह राजनीति जन-साधारण की उन गतिविधियों का संकेत देती है, जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न समूह अपने-अपने परस्पर विरोधी हितों में ताल-मेल स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

परम्परागत राजनीतिशास्त्र का मुख्य स्रोत 'राज्य' से था, इसीलिए इसको राज्य के विज्ञान से भी परिभाषित करते हैं। उस काल के राजनीतिशास्त्र के विद्वानों एवं लेखकों के लेख में भी इन्हीं बातों का अभिलेख मिलता है। इन लेखों में लेखकों ने अपना ध्यान निम्नलिखित समस्याओं पर ही केन्द्रित किया। जैसे- राज्य के लक्षण, मूल तत्व एवं संस्थाएँ, सर्वगुण सम्पन्न राज्य। परन्तु आधुनिक काल में उपरोक्त विचारों के अतिरिक्त और भी पक्षों का समावेश किया है। उदाहरणार्थ 'राजनीति' मनुष्य की व्यापक क्रिया है। यह केवल राज्य की परिधि में निहित नहीं है वरन् सम्पूर्ण सामाजिक संगठन के साथ जुड़ी रहती है। इसीलिए राजनीति को आज के सन्दर्भ में एक सामाजिक प्रक्रिया माना जाता है।

9.5 राजनीतिक स्थिति की विशेषताएँ

उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो गया कि राजनीति एक विशेष मानवीय क्रिया है। इन क्रियाओं के कार्यान्वयन में मनुष्य का ही योगदान है तथा क्रियान्वित कार्य राजनीतिक स्थिति कहलाती है। इसके समर्थन में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने

अपने मत भी प्रकट किये हैं। जैसे एलेन बाल द्वारा रचित पुस्तक 'मार्डन पालिटिक्स एण्ड गवर्नमेंट' के अन्तर्गत लिखा है, राजनीतिक क्रिया में मतभेद और उन मतभेदों का समाधान निहित होता है। जे0डी0बी0 मिलर ने अपनी पुस्तक 'द नेचर एण्ड पालिटिक्स' में लिखा है कि राजनीतिक स्थित में संघर्ष के समाधान के लिए शासन या सरकार का प्रयोग किया जाता है। इसका तात्पर्य है कि राजनीतिक गतिविधि में मतभेद की स्थिति से पैदा होती है और इसका सरोकार परिवर्तन की दिशा में या परिवर्तन की रोकथाम के लिए संघर्ष के समाधान में प्रयोग से है। इस तरह राजनीतिक प्रक्रिया में दो बातों का होना आवश्यक है, पक्षों में मतभेद या संघर्ष की मौजूदगी एवं सरकार की सत्ता के माध्यम से उस संघर्ष के समाधान का प्रयास।

राजनीति का सम्बन्ध समाज में 'मूल्यों' के आधिकारिक आवंटन से है। इस परिभाषा में तीन महत्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया गया है ये शब्द हैं- मूल्य, आधिकारिक एवम आवंटन। 'मूल्य' का अभिप्राय समाज में मिलने वाली दुर्लभ वस्तुएँ हैं, जैसे- रोजगार, स्वास्थ्य सेवा, परिवहन सेवा, शिक्षा, मनोरंजन, मान-प्रतिष्ठा इत्यादि। इसको ऐसे भी समझा जा सकता है कि वे अभीष्ट वस्तुएँ, लाभ अथवा सेवाएँ जिन्हें हर कोई पाना चाहता है, परन्तु वे इतनी कम हैं कि उन्हें सभी नहीं पा सकते हैं।

'आवंटन' शब्द का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों या समूहों में इन वस्तुओं का वितरण या बंटवारे से है। इस बंटवारे के लिए निर्णयन प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। निर्णय तो नीति के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। निर्णय का अर्थ है, अनेक में से एक का चयन। नीति में निर्णय तक पहुँचना और उसे कार्यान्वित करना भी शामिल है।

उपरोक्त दो शब्दों की व्याख्या के बाद 'आधिकारिक' शब्द की विवेचना करना भी आवश्यक है। नीति जिन लोगों के लिए बनाई जाती है और वही लोग जब नीति का पालन करना आवश्यक समझते हैं, तब वह नीति आधिकारिक होती है। इस प्रकार से सम्पूर्ण प्रक्रिया में सरकार का ही योगदान है। शासन, सत्ता पक्ष के द्वारा ही किया जाता है, सत्ता वैधानिक होती है एवं सत्ता में शक्ति भी निहित होती है। किसी विशेष निर्णय या कार्यवाही को लागू करने के लिए लोगों से सत्ता सहर्ष आज्ञापालन सुनिश्चित कराने की क्षमता रखता है। जब हम राजनीति की परिभाषा को मूल्यों के आधिकारिक आवंटन के रूप में देखते हैं, तब हम उसे सार्वजनिक सामाजिक घटना के रूप में पहचानते हैं। राजनीति एक विश्व-व्यापी गतिविधि है। समाज में अभीष्ट वस्तुएँ, लाभ और सेवाएँ इत्यादि थोड़ी होती हैं और उनकी माँग करने वाले लोग ज्यादा होते हैं। अतः वहाँ ऐसी आधिकारिक सत्ता की आवश्यकता

पड़ती है, जो परस्पर विरोधी मांगों को सामने रखकर कोई एक रास्ता निकाल सके और जिसे सब लोग स्वीकार कर लें। इसका अर्थ यह नहीं है कि सबकी मांगें पूरी कर दी जाती है या कोई समाधान हमेशा के लिए स्वीकार कर लिया जाता है। वास्तव में एक समाधान स्वीकार करने के पश्चात नई मांगें नये-नये रूपों में प्रस्तुत की जाती हैं और फिर नये समाधान की तलाश की जाती है। अतः राजनीति एक निरंतर प्रक्रिया है। राजनीति के इस दृष्टिकोण को हम साधारणतया उदारवादी दृष्टिकोण के रूप में पहचानते या पुकारते हैं। राजनीति का यह आधुनिक दृष्टिकोण है। राजनीति के प्राचीन दृष्टिकोण के अन्तर्गत सामाजिक जीवन का लक्ष्य या ध्येय पूर्व में ही निर्धारित रहता था और समाज के सदस्यों को पूर्व निर्धारित व्यवस्था के अन्तर्गत ही अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। परन्तु आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत संघर्ष को सामाजिक जीवन का स्वभाविक लक्षण माना जाता है। इसे बल पूर्वक दबाने की चेष्टा नहीं की जाती है, वरन् इसका समाधान खोजने पर बल दिया जाता है।

किसी भी मतदभेद या संघर्ष के समाधान के लिए आधिकारिक सत्ता का प्रयोग आवश्यक होता है। इस सत्ता के प्रयोग के कारण ही आधिकारिक नीतियाँ, नियम एवं निर्णय समाज में स्वीकार किये जाते हैं और प्रभावशाली ढंग से लागू भी किये जाते हैं। सत्ता के दो मुख्य घटक होते हैं, शक्ति और वैद्यता। पहले भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया जा चुका है, परन्तु अब विस्तार से इनकी व्याख्या यहाँ पर की जा रही है। वैद्यता से तात्पर्य है कि सरकार द्वारा लिए गये निर्णय और उनके अनुरूप बनाये गये नियम सारे समाज में लिए उपयुक्त हैं और कल्याणकारी हैं, इसलिए समाज के सभी वर्ग उसे मन से स्वीकार करते हुए और उन नियमों का अनुपालन सुनिश्चित करने को तत्पर रहते हैं। शक्ति का अर्थ है, समाज की इच्छा के विरुद्ध किसी नियम या निर्णय को बल पूर्वक आदेशानुसार पालन करवाना। समाज में व्यवस्था स्थापित रखने के लिए वैद्यता और शक्ति एक-दूसरे के पूरक हैं। चूंकि राजनीति में सत्ता का प्रयोग आवश्यक है और शक्ति के बिना सत्ता अधूरी है, इसलिए राजनीति में शक्ति का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजनीति में शक्ति के तीन प्रकार हैं- राजनीतिक शक्ति, आर्थिक शक्ति और विचारात्मक शक्ति। राजनीतिक शक्ति का अर्थ है- नीतियों एवं कानून का निर्माण करना, कानून को लागू करना, कर लगाना और वसूल करना, कानून का पालन न करने वालों को दंडित करना तथा शत्रुओं एवं आक्रमणकारियों को नष्ट करने से है। साधारणतः राजनीतिक शक्ति का उपयोग सरकार के तीन विभिन्न अंगों द्वारा किया जाता है, विधान मण्डल, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका, इन्हें शक्ति के औपचारिक अंग कहते हैं। परन्तु इनके अलावा कुछ

अनौपाचारिक अंग भी हैं, जैसे- विभिन्न दबाव समूह, राजनीतिक दल आदि। ये अपने ढंग से राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते हैं।

आर्थिक शक्ति का अर्थ है, 'धन सम्पदा, उत्पादन के साधनों या अन्य दुर्लभ साधनों के स्वामित्व के बल पर निर्धन लोगों या निर्धन राष्ट्रों के जीवन की परिस्थितियों पर नियन्त्रण स्थापित करना।' आर्थिक शक्ति राजनीति पर व्यापक प्रभाव डालती है। उदार लोकतंत्र के अन्तर्गत बड़े-बड़े जमींदार, उद्योगपति और व्यापारिक घराने, सार्वजनिक नीतियों और निर्णयों को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं और विकास की प्राथमिकताएँ निर्धारित करने में अपने हित को सर्वोपरि रखते हैं। बड़े-बड़े पूंजीपति अक्सर अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक दलों और चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को भारी वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। ऐसी सहायता पाने वाले राजनीतिज्ञ ऊपरी तौर पर जनसाधारण के हितों की दुहाई देते हैं, परन्तु भीतर से वे अपने वित्त-दाताओं के हितों के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। विचारात्मक शक्ति, राजनीतिक शक्ति का एक गूढ़ आधार प्रस्तुत करती है। विचारात्मक शक्ति शासन की व्यवस्था को समाज की दृष्टि में उचित ठहराती है और इसीलिए उसे वैद्यता प्रदान करती है। समाज में शासक वर्ग सर्वोत्तम शासन प्रणाली के बारे में विचारों को बढ़ावा देते हैं, जिन्हें राजनीतिक विचारधारा कहते हैं। आज के युग में भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं और उन्हें उचित ढहराने के लिए पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, लोकतंत्रीय समाजवाद आदि सर्वोत्तम शासन प्रणाली सिद्ध करने को तत्पर रहती हैं। ये सारे वाद विभिन्न विचारधाराओं के ही उदाहरण हैं।

9.6 प्रशासन

अंग्रेजी शब्द 'एडमिनिस्ट्रेशन' की रचना लैटिन के दो शब्दों से मिलकर हुई है। एड एवं मिनिस्टर, जिसका अर्थ है, प्रबन्ध करना। अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार प्रशासन शब्द का अर्थ है, कार्यों का प्रबन्ध। शासन करने से तात्पर्य है- प्रबन्ध करना, निर्देशन करना इत्यादि। प्रशासन शब्द को विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया है-

पॉल एच० ऐपलेबी के शब्दों में, यदि प्रशासन न हो तो सरकार तो केवल वाद-विवाद का क्लब मात्र बन कर रह जायेगी, बर्षते इस स्थिति में वह जीवित रह सके।

ई0एन0 ग्लेडन के अनुसार, प्रशासन का अर्थ है लोगों की परवाह करना या देखभाल करना, कार्यों का प्रबन्ध करना, किसी जाने-बूझे कार्य की पूर्ति के लिए उठाया जाने वाल सुनिश्चित कदम।

नीग्रो के अनुसार- किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य तथा सामग्रियों का जो संगठन तथा उपयोग किया जाता है, उसे प्रशासन कहा जाता है।

एल0डी0 व्हाइट ने प्रशासन को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया है, किसी उद्देश्य अथवा लक्ष्य की पूर्ति के लिए बहुत से व्यक्तियों के निर्देशन, समन्वय तथा नियंत्रण को ही प्रशासन की कला कहते हैं।

पिफनर ने प्रशासन की परिभाषा इस प्रकार की है, वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक साधनों का संगठन तथा निर्देशन ही प्रशासन है।

हरबर्ट साइमन के शब्दों में, प्रशासन सबसे अधिक व्यापक अर्थ में, समान लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वर्गों द्वारा मिलकर की जाने वाली क्रियाओं को प्रशासन कहा जा सकता है।

लूथर गलिक के अनुसार, प्रशासन का सम्बन्ध कार्यों के करवाने से निश्चित उद्देश्य की पूर्ति कराने से है।

उपरोक्त परिभाषाओं से विदित है कि प्रशासन सर्वमान्य लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले वर्गों की क्रियाओं से है। दूसरे शब्दों में, प्रशासन में वे सभी क्रियाएँ आती हैं जो किसी उद्देश्य या ध्येय की प्राप्ति के लिए की जाती हैं। प्रशासन शब्द का प्रयोग संकीर्ण अर्थ में भी किया जाता है, जिसका अभिप्राय व्यवहार के उन सभी प्रतिरूपों से है जो विभिन्न प्रकार के सहयोगी समूहों में एक जैसे होते हैं और जो उन निश्चित उद्देश्यों पर आधारित नहीं होते, जिनके लिए वे परस्पर सहयोग करते हैं और न ही वे उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयोग की जा रही निश्चित पद्धतियों पर आधारित होते हैं।

9.7 राजनीति एवं प्रशासन में सम्बन्ध

प्रशासन को राजनीति से भिन्न रखने में आरम्भिक दौर के चिंतकों ने काफी भेद किया। उनकी दृष्टि में राजनीति, नीतियों का निर्माण करती है और प्रशासन का कार्य है कि वह यथासंभव कुशलता एवं मितव्ययिता से उन नीतियों को लागू करे। अतः क्रियाओं की दृष्टि से राजनीति और प्रशासन के क्षेत्र पृथक् एवं भिन्न हैं। लोक प्रशासन के पितामह 'वुडरो विल्सन' ने अपने लेख 'स्टडी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन' में लिखा है कि प्रशासन का उचित क्षेत्र राजनीति से बाहर है। प्रशासनिक प्रश्न, राजनीतिक प्रश्न नहीं होते। यद्यपि प्रशासन के ध्येय राजनीति निश्चित करती

है, किन्तु यह अनुमति नहीं दी जानी चाहिए कि वह प्रशासन के कार्यों में हस्तक्षेप करें। राजनीति राजमर्मज्ञ का विशेष क्षेत्र है और प्रशासन तकनीकी अधिकारी का विशेष क्षेत्र है।

कालान्तर में राजनीति एवं प्रशासन के भेद की काफी आलोचना हुई। प्रशासन के अराजनीतिक दृष्टिकोण पर इतना बल दिया गया कि इसने प्रशासन को अपरिवर्तनीय परिभाषा बना दिया जो अपने स्वतंत्र सिद्धान्तों का अनुसरण करता है। चाहे सरकार का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो और जिन राजनीतिक मूल्यों के अधीन इसे काम करना है, वे कैसे ही क्यों न हों। यह दृष्टिकोण पूर्णतया गलत है, क्योंकि किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था उसकी प्रशासन व्यवस्था से न तो बाहर है और न असम्बन्धित, अपितु यही तो इसका ताना-बाना है। राजनीति और प्रशासन के बीच सम्बन्धों का विकास कालान्तर में हुआ। जान लॉक तथा मांटेसक्यू के समय से लेकर आज तक विद्वान, प्रशासक व राजनीतिज्ञ इस विषय पर वाद-विवाद करते रहे हैं। अपने गणतंत्र के प्रारम्भिक समय से ही अमेरिका के राजनेता नीति-निर्माण तथा प्रशासनिक विषयों में भेद करते आये हैं। इससे राजनीति और प्रशासन में द्विभाजन का विकास हुआ। यद्यपि इस धारणा का द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अन्तिम तौर पर परित्याग कर दिया गया।

प्रशासन व राजनीति में भेद को लेकर काफी आलोचना हुई और लोक प्रशासन के विद्वानों ने इस भेद को अस्वीकृत कर दिया एवं एक सिरे से नकार दिया। तथ्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि प्रशासन का नीति-निर्माण या निर्धारण के कार्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है और वह इसमें सक्रिय भाग लेता है। यह एक पूर्णतया अतार्किक तर्क है कि नीति निर्धारण का कार्य प्रशासनिक अधिकारी वर्ग की सहायता या परामर्श के बिना भी सम्पन्न किया जा सकता है। मन्त्रीगण अधिकांश विधेयक अपने-अपने उच्च प्रशासनिक अधिकारी के प्रेरणा पर ही पारित करते हैं। हस्तांतरित विधान की सम्पूर्ण धारणा राजनीति व प्रशासन के विभाजन को अर्थहीन एवं तथ्यहीन सिद्ध करती है। तथ्यों व आंकड़ों के अभाव में किसी भी सफल नीति का निर्धारण असम्भव है। ये तथ्य तथा आंकड़े प्रशासनिक अधिकारी ही प्रदत्त करते हैं। कानूनों व नीतियों की व्यवहारिकता तथा अव्यवहारिकता प्रशासनिक अधिकारियों के परामर्श के आधार पर ही तय की जाती

है। कहने का तात्पर्य है कि पग-पग पर राजनीति एवम प्रशासन परस्पर मिश्रित प्रतीत होते हैं। हर पल प्रशासन राजनीति को प्रभावित करता है। ऐपलबी का कहना था, कि नीति का निर्माण ही लोक प्रशासन है। उपरोक्त विचारों से यह सिद्ध हो गया कि राजनीति एवं प्रशासन अविभाज्य है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित तथ्य उसके साक्षी हैं।

राजनीतिक नेता को जटिल और तकनीकी विषयों पर नीति सम्बन्धी निर्णय करने के लिए ज्ञानपूर्ण परामर्श हेतु सर्वथा स्थायी कर्मचारियों पर आश्रित होना पड़ता है।

पेचीदा स्थितियों में नीति-निर्माण तथा नीति परिपालन एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

प्रायः नीतियों की विभिन्न प्रकार से व्याख्या हो सकती है। ऐसी स्थिति में जो प्रशासक एक नीति का परिपालन करने के लिए उत्तर दायी होते हैं, उस नीति की व्याख्या करते हुए स्वेच्छा-निर्णय का प्रयोग भी करते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. राज्य के चार तत्व होते हैं। सत्य/असत्य
2. राजनीति का सम्बन्ध नीति-निर्माण से होता है। सत्य/असत्य
3. प्रशासन का सम्बन्ध नीतियों के क्रियान्वयन से होता है। सत्य/असत्य

9.8 सारांश

उपरोक्त लेख का अध्ययन करने के बाद आप राजनीति एवं प्रशासन शब्द से भली-भाँति परिचित हो चुके होंगे। कानूनों व नीतियों की व्यवहारिकता तथा अव्यवहारिकता, प्रशासनिक अधिकारियों के परामर्श के आधार पर ही तय की जाती है। कहने का तात्पर्य है कि राजनीति एवं प्रशासन मिश्रित प्रतीत होते हैं।

इससे स्पष्ट है कि नीति-निर्माण और नीति क्रियान्वयन एक दूसरे से पूरी तरह से पृथक नहीं किये जा सकते हैं। क्योंकि मंत्री विभागाध्यक्ष होते हैं, जो अपनी अनुभवहीनता और विशेषज्ञता के अभाव में काफी हद तक प्रशासनिक अधिकारियों के परामर्श पर निर्भर करते हैं।

9.9 शब्दावली

राज्य- एक निश्चित भू-भाग में रहने वाली जनसंख्या, जिसकी अपनी सरकार हो, जो अपने आंतरिक और बाह्य मामलों में पूरी तरह से स्वतन्त्र हो(सम्प्रभुता)।

आवंटन- व्यक्तियों या समूहों में वस्तुओं का विवरण।

9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गाबा, ओपी- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा।
2. जैन पुखराज- राजनीति विज्ञान।

9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार।
2. एनसीआईआरटी।

9.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीति को परिभाषित करते हुए उसकी विभिन्न धारणाओं की व्याख्या कीजिए।
2. राजनीतिक स्थिति की विशेषताओं पर एक निबन्ध लिखिए।
3. राजनीति एवं प्रशासन से आप क्या समझते हैं? दोनों के मध्य सम्बन्धों पर अपनी समीक्षा कीजिए।

इकाई- 10 केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 केन्द्र-राज्य विधायी सम्बन्ध

10.2.1 संघ सूची

10.2.2 राज्य सूची

10.2.3 समवर्ती सूची

10.2.4 राज्य सूची के विषय पर संसद की व्यवस्थापन शक्ति

10.3 केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध

10.3.1 राज्य सरकारों को निर्देश देने की संघ सरकार की शक्ति

10.3.2 संघ सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन करने में असफल रहने का प्रभाव

10.3.3 संघ द्वारा राज्यों की शक्ति देने का अधिकार

10.3.4 राज्य सरकारों द्वारा संघ सरकार को कार्य सौंपने की शक्ति

10.3.5 राज्यपालों की नियुक्ति और बरखास्तगी

10.3.6 राज्य सरकारों को बरखास्त करना

10.3.7 मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध जाँच आयोग

10.3.8 अखिल भारतीय सेवाओं पर नियन्त्रण

10.4 केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध

10.4.1 संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यों द्वारा संग्रहित तथा विनियोजित शुल्क

10.4.2 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत परन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर

10.4.3 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत किन्तु संघ और राज्यों के बीच वितरित कर

10.4.4 संघ के प्रयोजन के लिए कर

-
- 10.4.5 राज्यों के प्रायोजन के लिए कर
 - 10.4.6 राजस्व में सहायक अनुदान
 - 10.4.7 ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध
 - 10.5 भारत के नियंत्रक एवं महालेखा द्वारा नियन्त्रण
 - 10.6 वित्तीय संकटकाल
 - 10.7 सारांश
 - 10.8 शब्दावली
 - 10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 - 10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
 - 10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
 - 10.12 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

भारत एक परिसंघ है और उसका संविधान परिसंघीय है। परिसंघ में शासन के दो स्तर होते हैं। सभी शक्तियाँ इन स्तरों में विभाजित की जाती हैं। संघ, उन्तीस राज्यों और सात संघ राज्य क्षेत्रों, सभी संविधान से शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। राज्यों को शक्ति संघ नहीं प्रदान करता है। सबकी शक्ति का एक ही स्रोत है और वह है, संविधान। संविधान में सभी शक्तियों का विभाजन संघ और राज्यों के मध्य किया गया है।

प्रत्येक परिसंघीय राज्य-व्यवस्था का आवश्यक लक्षण है कि शक्तियों का विभाजन और वितरण राष्ट्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच किया जाता है। जिन शक्तियों को इस प्रकार विभाजित किया जाता है वे साधारणतया चार प्रकार की होती हैं- विधायी, कार्यपालिका, वित्तीय और न्यायिक। अतः संविधान के आधार पर संघ तथा राज्यों के सम्बन्धों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- केन्द्र तथा राज्यों के विधायी सम्बन्ध, केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध और केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे।
- केन्द्र एवं राज्यों के बीच प्रशासनिक शक्तियों के विभाजन की विवेचना कर सकेंगे।
- केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों का वर्णन कर सकेंगे।
- केन्द्र व राज्य, सहयोग प्राप्त करने के विभिन्न उपायों की व्याख्या कर सकेंगे।

10.2 केन्द्र-राज्य विधायी सम्बन्ध

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 245 व 255 में केन्द्र-राज्य के मध्य विधायी सम्बन्धों के बारे में बताया गया है। संघ व राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों का संचालन उन तीन सूचियों के आधार पर होता है, जिन्हें संघ सूची, राज्य सूची व समवर्ती सूची का नाम दिया गया है। इन सूचियों को सातवीं अनुसूची में रखा गया है।

10.2.1 संघ सूची

इस सूची में राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषयों को रखा गया है, जिसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की नीति का अनुकरण आवश्यक कहा जा सकता है। इस सूची के सभी विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार संघीय संसद को प्राप्त है। इस सूची में कुल 97 विषय हैं। जिनमें से कुछ प्रमुख हैं- रक्षा, वैदेशिक मामले, देशीकरण व नागरिकता, रेल, बन्दरगाह, हवाई मार्ग, डाक, तार, टेलीफोन व बेतार, मुद्रा निर्माण, बैंक, बीमा, खानें व खनिज आदि।

10.2.2 राज्य सूची

इस सूची में साधारणतया वो विषय रखे गये हैं, जो क्षेत्रीय महत्व के हैं। इस सूची के विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार सामान्यतया राज्यों की व्यवस्थापिकाओं को ही प्राप्त है। इस सूची में 66 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख हैं- पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक व्यवस्था, कृषि, सिंचाई आदि।

10.2.3 समवर्ती सूची

इस सूची में सामान्यतया वो विषय रखे गये हैं, जिनका महत्व क्षेत्रीय व संघीय दोनों ही दृष्टियों से है। इस सूची के विषयों पर संघ तथा राज्य, दोनों को ही विधियाँ बनाने का अधिकार प्राप्त है। यदि समवर्ती सूची के विषय पर संघीय संसद तथा राज्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून परस्पर विरोधी हों तो सामान्यतयः संघ का कानून मान्य होगा। इस सूची में कुल 47 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख हैं- फौजदारी, निवारक विरोध, विवाह तथा विवाह विच्छेद, दत्तक और उत्तराधिकार, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, आर्थिक और समाजिक योजना और सामाजिक बीमा, पुर्नवास और पुरातत्व आदि।

10.2.3 अवशेष विषय

आस्ट्रेलिया, स्विटजरलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण का अधिकार इकाईयों को प्रदान किया गया है, लेकिन भारतीय संघ में कनाडा के संघ की भांति अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति संघीय संसद को प्रदान की गयी है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शक्तियों के बंटवारे में केन्द्र सरकार की तरफ झुकाव अधिक है।

10.2.4 राज्य सूची के विषय पर संसद की व्यवस्थापन शक्ति

सामान्यतया संविधान द्वारा किये गये शक्ति विभाजन का उल्लंघन किसी भी सत्ता द्वारा नहीं किया जा सकता। संसद द्वारा राज्य सूची के किसी विषय पर और किसी राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा संघ सूची के किसी विषय पर निर्मित कानून अवैध होगा। लेकिन संसद के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय एकता हेतु राज्य सूची के विषयों पर भी कानून का निर्माण किया जा सकता है। संसद को इस प्रकार की शक्ति प्रदान करने वाले संविधान के कुछ प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं-

1. **राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का होने पर-** संविधान के अनुच्छेद- 249 के अनुसार यदि राज्य सभा अपने दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है कि राज्य सूची में उल्लिखित कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, तो संसद को उस विषय पर विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसकी मान्यता केवल एक वर्ष तक रहती है। राज्य सभा द्वारा पुनः प्रस्ताव स्वीकृत करने पर इसकी अवधि में एक वर्ष की वृद्धि और हो जाएगी।

2. **संकट कालीन घोषणा होने पर-** अनुच्छेद- 352 के अन्तर्गत संकटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति पर भारतीय संसद का अधिकार हो जाता है। अनुच्छेद- 250 इस घोषणा की समाप्ति के छः माह बाद तक संसद द्वारा निर्मित कानून पूर्ववत् चलते रहेंगे।
3. **राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट करने पर-** अनुच्छेद- 252 के अनुसार यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास कर यह इच्छा व्यक्त करते हैं, कि राज्य सूची के किन्हीं विषयों पर संसद द्वारा कानून निर्माण किया जाय, तो उन राज्यों के लिए उन विषयों पर अधिनियम बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाएगा। राज्यों के विधानमण्डल न तो इन्हें संशोधित कर सकते हैं और न ही इन्हें पूर्ण रूप से समाप्त कर सकते हैं।
4. **विदेशी राज्यों से हुई संधियों के पालन हेतु-** अनुच्छेद- 253 के अनुसार यदि संघ सरकार ने विदेशी राज्यों से किसी प्रकार की संधि की है, अथवा उनके सहयोग के आधार पर किसी नवीन योजना का निर्माण किया है, तो इस सन्धि के पालन हेतु संघ सरकार को सम्पूर्ण भारत के सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत पूर्णतया हस्तक्षेप और व्यवस्था करने का अधिकार होगा। इस प्रकार इस स्थिति में भी संसद को राज्य सूची के विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।
5. **राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर-** यदि किसी राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाए या संवैधानिक तंत्र विफल हो जाए तो संविधान के अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा दिया जाता है। इस स्थिति में राज्य की समस्त विधायी शक्तियाँ संसद द्वारा अथवा संसद के प्राधिकार के अधीन इस्तेमाल की जाती हैं। इस अधिकार के तहत संसद किसी भी सूची के किसी भी विषय पर विधायन बना सकता है।
6. **कुछ विषयों को प्रस्तावित करने और कुछ को अन्तिम स्वीकृत के लिए केन्द्र का अनुमोदन आवश्यक-** उपर्युक्त परिस्थितियों में तो संसद द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी राज्य व्यवस्थापिकाओं की राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति सीमित है। अनुच्छेद- 304 (ख) के अनुसार, कुछ विधेयक ऐसे होते हैं, जिनको राज्य विधान-मण्डल में प्रस्तावित किए जाने के पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के

लिए वे विधेयक जिनके द्वारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से उस राज्य के अन्दर या उससे बाहर, वाणिज्य या मेल-जोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाए जाने हों।

10.3 केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध

किसी भी परिसंघीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र व राज्यों की कार्यपालिकाएँ अलग-अलग होती हैं। जहाँ तक विधान बनाने का प्रश्न है, दोनों के क्षेत्र को तय करना कठिन नहीं है। क्योंकि संविधान के सातवीं अनुसूची में शक्तियों का स्पष्ट विभाजन है। प्रशासनिक मामलों में बहुत सी कठिनाइयाँ सामने आती हैं। कुछ मामले ऐसे होते हैं, जिन्हें स्थानीय स्तर पर अच्छी तरह निपटाया जा सकता है और कुछ मामले ऐसे होते हैं, जिनके लिए बड़े संगठन की आवश्यकता होती है, जिससे क्षमता और मितव्ययता सम्भव हो सके। इसके अतिरिक्त परिसंघ की विभिन्न इकाइयों के बीच समन्वय स्थापित करना तथा उनके झगड़े का निपटारा करना भी आवश्यक हो जाता है। इन सभी समस्याओं को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद- 256 से 263 तक कुछ उपबन्ध किए हैं।

10.3.1 राज्य सरकारों को निर्देश देने की संघ सरकार की शक्ति

संविधान के अनुच्छेद- 256 के अनुसार, राज्य सरकार का यह कर्तव्य है कि संसद द्वारा पारित विधि को मान्यता दे। इस प्रावधान का यह परिणाम निकलता है कि प्रत्येक राज्य की प्रशासनिक शक्ति को इस प्रकार प्रयोग में लाना होता है कि वह संघ सरकार की प्रशासनिक शक्ति को प्रतिबंधित ना करे। संघ सरकार आवश्यकतानुसार इस प्रकार के निर्देश भी राज्य सरकार को दे सकती है। इसके अतिरिक्त संघ सरकार राज्यों को निम्नलिखित विषयों पर निर्देश दे सकती है-

1. राष्ट्रीय तथा सैनिक महत्व के यातायात तथा सूचना के साधनों का निर्माण और उनकी देखभाल करना।
2. राज्य में विद्यमान रेलमार्ग की सुरक्षा करना। जब कभी किसी यातायात के साधन के निर्माण अथवा देखभाल करने में अथवा रेलमार्ग की सुरक्षा करने में राज्य सरकार को अतिरिक्त व्यय करना पड़ जाता है, तो भारत सरकार उसका भुगतान राज्य को कर देती है और यदि अतिरिक्त व्यय की राशि के लिए कोई मतभेद हो जाता है तो भारत को मुख्य न्यायाधीश के द्वारा नियुक्त मध्यस्थ इसका निर्णय करता है; अनुच्छेद- 257।
3. परिगणित जनजातियों के हित के लिए बनाई गई योजनाओं को लागू करना; अनुच्छेद- 339।

10.3.2 संघ सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन करने में असफल रहने का प्रभाव

संघ सरकार को संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों के अन्तर्गत समान्य तथा असामान्य अवस्थाओं में जो निर्देश देने की शक्ति दी गयी है, उसके परिणामस्वरूप यह भी बात सामने आती है कि यदि संविधान के किसी भी प्रावधान के अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन राज्य सरकार नहीं करती, तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि राज्य सरकार संविधान के अनुच्छेद- 365 के अन्तर्गत किये गये प्रावधान के अनुसार कार्य करने के समर्थ नहीं है। जैसे ही यह घोषणा की जायेगी, राज्य सरकार अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत बरखास्त कर दी जायेगी। इस आधार पर राज्य की विधान सभा या तो निलम्बित की जा सकती है, या भंग की जा सकती है।

10.3.3 संघ द्वारा राज्यों की शक्ति देने का अधिकार

भारतीय संविधान की मूलभूत विशेषता यह है कि यह सहकारी संघ प्रणाली पर आधारित है। भारत सरकार के 1935 के विधान के समान यह संघ को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह प्रतिबन्ध सहित अथवा प्रतिबन्ध रहित कुछ कार्य राज्य सरकारों को सौंप दें, अथवा राज्य सरकारों को स्वीकृति से इसके अधिकारियों को सौंप दे; अनुच्छेद- 258।

इसके अतिरिक्त, कुछ मामलों में तो राज्य सरकारों की अनुमति के बिना भी लोक सभा कानूनन अधिकार दे सकती है और राज्य के अधिकारियों को कार्य सौंप सकती है। जो भी ऐसे मामलों में यदि राज्य सरकार को कुछ अतिरिक्त व्यय करना पड़ता है, तो उसको भारत सरकार अदा करती है। यदि होने वाले अतिरिक्त व्यय के विषय में भारत सरकार और राज्य सरकारों में मतभेद हो जाता है तो उसका निर्णय भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ के द्वारा किया जाता है। इस अनुच्छेद के अनुसार जनगणना करवाना, चुनाव के लिए मत-सूची तैयार करवाना और चुनाव करवाना ये तीनों काम राज्य सरकारों को सौंपे हुए हैं।

10.3.4 राज्य सरकारों द्वारा संघ सरकार को कार्य सौंपने की शक्ति

मूलतः संविधान में कोई ऐसा प्रावधान नहीं है, जिसके अनुसार एक राज्य सरकार कुछ कार्य भारत सरकार के किसी अंग को सौंप सके। सम्भवतः संविधान निर्माताओं ने यह कभी नहीं सोचा था कि कभी ऐसी भी घटना हो सकती है। केन्द्र सरकार ने जब उड़ीसा सरकार की ओर से हीराकुण्ड बांध का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया और यह निर्णय किया कि इसकी लागत राज्य सरकार के खातों से खर्च होगी तो लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा

परीक्षक(ऑडिटर जनरल) ने आपत्ति की। उसके पश्चात 1956 में सातवां संविधान संशोधन पारित किया गया और संविधान में अनुच्छेद- 258 ए, जोड़ दिया गया। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य के राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया कि वह सप्रतिबन्ध अथवा अप्रतिबन्ध रूप से कुछ कार्य सौंप दे, जिससे राज्य की प्रशासनिक शक्ति संघीय सरकार के अधिकारियों के पास पहुँच जाये। परन्तु यह सब भी भारत सरकार की अनुमति से ही हो सकता है।

10.3.5 राज्यपालों की नियुक्ति और बर्खास्तगी

राज्यपाल किसी भी राज्य के संवैधानिक प्रमुख होते हैं। राष्ट्रपति इनकी नियुक्ति बरखास्तगी अथवा स्थानान्तरण करता है। वस्तुतः वे शुद्ध रूप से संघीय सरकार की दयाभाव पर निर्भर हैं। इसलिए अनेक बार उन्हें केन्द्रीय सरकार के दबाव के कारण मंत्रिमण्डल को नियुक्त करने तथा पदच्युत करने और विधान सभा की बैठक बुलाने, स्थगित करने तथा भंग करने का कर्तव्य निबाहना पड़ता है। राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों को निश्चित करने और राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए सिफारिश करने के अधिकारों का प्रयोग केन्द्र में सत्ता दल के हितों को ध्यान में रखते हुए करना पड़ता है। इस प्रकार बहुत हद तक केन्द्र, राज्यों की स्वायत्ता को राज्यपालों के द्वारा नष्ट कर देता है।

10.3.6 राज्य सरकारों को बरखास्त करना

संघीय सरकार को अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने की अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति दी गयी है। यद्यपि इसमें यह अवश्य है कि यदि राष्ट्रपति सन्तुष्ट हो जाता है कि, परिस्थिति ऐसी बन गयी है, जिसमें राज्य की सरकार, संविधान में दिये गये प्रावधान के अनुसार कार्य नहीं कर रही है। इस अनुच्छेद का केन्द्र में शासन करने वाली पार्टी ने बार-बार प्रयोग पक्षपातपूर्ण उद्देश्यों के लिए किया और दूसरी और राज्यों की स्वायत्ता को नष्ट करने के लिए किया। जो भी राज्य सरकार अपने अनूकूल न दिखाई दी, उसे ही पदच्युत कर दिया गया तथा विधान सभाओं को या तो निलम्बित कर दिया गया अथवा केन्द्र में शासन करने वाली पार्टी के हितों को ध्यान में रखते हुए उसे भंग कर दिया गया। उस अनुच्छेद ने वस्तुतः राज्य सरकारों को प्रशासन की दृष्टि से सर्वथा केन्द्र के अधीन बना दिया।

10.3.7 मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध जाँच आयोग

एक दूसरा उपाय जिसके द्वारा संघ सरकार राज्य सरकारों पर पूर्ण प्रशासनिक नियन्त्रण रखती है, वह है केन्द्र सरकार द्वारा मुख्यमंत्रियों के भूल-चूक या अच्छे-बुरे कार्यों के लिए उनके विरुद्ध जाँच-आयोग बैठाना। इस प्रकार का जाँच आयोग सबसे पहले पंजाब के मुख्यमंत्री प्रताप सिंह कैरों के विरुद्ध संघ सरकार ने 1963 में 'दास आयोग' के नाम से बैठाया था। इसके उपरान्त इस प्रकार के जाँच आयोग बैठाने लगे। जैसे 1972 में पंजाब में प्रकाश सिंह बादल के विरुद्ध, 1976 में तमिलनाडु में करुणानिधि के विरुद्ध सरकारी आयोग, आन्ध्र में वेंगल राव के विरुद्ध विया दलाल आयोग, कर्नाटक में देवराज उर्स के और हरियाण में बंसी लाल के विरुद्ध 1978 में और त्रिपुरा के मुख्यमंत्री एस0एस0 सेन गुप्त के विरुद्ध 1979 में बर्मन आयोग। 1981 में संघ सरकार ने तमिलनाडु और केरल में स्पिरिट घोटाले के विषय में जाँच करने लिए आयोग की नियुक्ति की थी।

10.3.8 अखिल भारतीय सेवाओं पर नियन्त्रण

संविधान में राज्यों की सेवाओं और केन्द्र सेवाओं का प्रावधान है। तो भी कुछ सेवाएँ ऐसी हैं जो अखिल भारतीय हैं। जैसे- भारतीय प्रशासनिक सेवा, इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस और भारतीय पुलिस सेवा, इण्डियन पुलिस सर्विस, केन्द्र सरकार इसके अतिरिक्त भी अखिल भारतीय सेवाओं का निर्माण कर सकती है। यदि राज्य सभा उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके इस प्रकार की अखिल सेवा के बनाने की सिफारिश करें तो केन्द्र की अनुमति के बिना उन पर कोई भी अनुशासनिक कार्यवाही नहीं की जा सकती।

10.4 केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्ध

कोई भी सरकार बगैर धन के सुचारू रूप से नहीं चल सकती है। एक परिसंघीय संविधान के अन्तर्गत राज्यों की स्वतंत्रता आवश्यक होती है। यह स्वतंत्रता तभी रह सकती है, जब राज्यों के लिए पर्याप्त वित्तीय व्यवस्था हो। प्रायः सभी मुख्य परिसंघों में वित्तीय व्यवस्था की, राज्यों पर नियंत्रण रखने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। इसलिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 263 से 293 तक वित्तीय सम्बन्धों पर विस्तृत चर्चा की गयी है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 265 में यह व्यवस्था है कि विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर न लगाया जाएगा और न वसूल किया जाएगा। अनुच्छेद- 265 के उपबन्ध प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों पर लागू होते

हैं। अनुच्छेद- 266 के अनुसार भारत सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, उधार लिया गया धन तथा उद्योग के प्रतिदान में प्राप्त सभी धनों की एक संचित निधि बनेगी, जो भारत की संचित निधि; के नाम से ज्ञात होगी और इसी प्रकार राज्य सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, उधार लिया धन तथा उधार के प्रतिदान में प्राप्त धनों की एक संचित निधि बनेगी, जो राज्य की संचित निधि; के नाम से ज्ञात होगी। भारत सरकार या राज्य सरकार द्वारा प्राप्त अन्य सभी सार्वजनिक धन लोक लेखा में जमा की जाएंगी। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद- 267 में भारत व राज्यों के लिये आकस्मिक निधि की व्यवस्था है, जो अपूर्व दृष्ट, व्यय के लिए क्रमशः राष्ट्रपति व राज्यपालों के हाथ में रखी जाएगी।

भारतीय संघ में संघ और राज्यों के बीच राजस्व वितरण की निम्नलिखित पद्धतियां अपनायी गयी हैं-

10.4.1 संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यों द्वारा संग्रहित तथा विनियोजित शुल्क

अनुच्छेद- 268 में यह उपलब्ध है कि ऐसे मुद्रा शुल्क जो औषधीय और प्रसाधन पर, ऐसे उत्पादन शुल्क जो संघ सूची में वर्णित है, भारत सरकार द्वारा आरोपित किये जायेंगे। परन्तु संघ-राज्य क्षेत्र के भीतर उदग्रहीत (levied) किए जाने वाले शुल्क, भारत सरकार द्वारा और राज्यों के बीच उदग्रहीत शुल्क, राज्य सरकारों द्वारा संग्रहीत किये जाएंगे। जो शुल्क राज्यों के भीतर उदग्रहीत किए जाएंगे वे भारत की संचित निधि में जमा न होकर उस राज्य की संचित निधि में जमा किए जाएंगे।

10.4.2 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत परन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर

कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, रेल, समुद्र तथा वायु द्वारा ले जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमान्त कर, रेल भाड़ों तथा वस्तु भाड़ों पर कर, शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के आदान-प्रदान पर मुद्राक शुल्क के अतिरिक्त कर, समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित किए गये विज्ञापनों पर और समाचार पत्रों से अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य से माल के क्रय-विक्रय पर कर।

10.4.3 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत किन्तु संघ और राज्यों के बीच वितरित कर

कुछ कर संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किए जाते हैं, किन्तु उनका विभाजन संघ तथा राज्यों के बीच होता है। आयकर का विभाजन संघीय भू-भागों के लिए निर्धारित निधि तथा संघीय खर्च को काटकर शेष राशि में से किया

जाता है। आयकर के अतिरिक्त दवा तथा शौक श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुओं के अतिरिक्त, अन्य चीजों पर लगाया गया उत्पान शुल्क इसके अन्तर्गत आता है।

10.4.4 संघ के प्रयोजन के लिए कर

अनुच्छेद- 271 में यह उपबन्ध है कि संसद संविधान के अनुच्छेद- 269 और 270 में निर्दिष्ट शुल्कों या करों के अधिभार द्वारा वृद्धि कर सकती है। अधिभार से हुई सारी आय भारत की संचित निधि का भाग होगी। संघ के प्रमुख राजस्व स्रोत इस प्रकार हैं- निगम कर, सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण, रिजर्व बैंक, शेयर बाजार आदि।

10.4.5 राज्यों के प्रायोजन के लिए कर

अनुच्छेद- 276 के अन्तर्गत राज्यों को वृत्तियों, व्यापारों, अजीविकाओं और नौकरियों पर कर लगाने का प्राधिकार दिया गया है। इससे प्राप्त आय राज्य या उसकी नगर पालिकाओं, जिला वार्डों या स्थानीय बोर्डों के हितों में प्रयोग की जाएगी। राज्यों के मुख्य राजस्व स्रोत हैं- प्रति व्यक्ति कर, कृषि-भूमि पर कर, सम्पदा शुल्क, भूमि और भवनों पर कर, पशुओं और नौकाओं पर कर, बिजली के उपयोग तथा विक्रय पर कर, वाहनों पर चुंगी कर आदि।

10.4.6 राजस्व में सहायक अनुदान

अनुच्छेद- 273 के तहत पटसन व उससे बनी वस्तुओं के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता है, उसमें से कुछ भाग अनुदान पैदा करने वाले राज्यों- बंगाल, उड़ीसा, बिहार व असम को दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद- 275 में उन राज्यों के लिए अनुदान की व्यवस्था है, जिनके बारे में संसद यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है।

10.4.7 ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध

संविधान, केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी सम्पत्ति निधि की साख पर देशवासियों व विदेशी सरकारों से ऋण ले सके। ऋण लेने का अधिकार राज्यों को भी प्राप्त है, परन्तु वे विदेशों से उधान नहीं ले सकते। यदि राज्य सरकार पर केन्द्र सरकार का कोई कर्ज बाकी है, तो राज्य सरकार अन्य कहीं से कर्ज केन्द्र सरकार की अनुमति से ही ले सकती है।

10.5 भारत के नियंत्रक एवं महालेखा द्वारा नियन्त्रण

भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के हिसाब का लेखा रखने का ढंग एवं उनकी निष्पक्ष रूप से जाँच करता है। नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के माध्यम से ही भारतीय संसद राज्यों की आय पर अपना नियंत्रण रखती है।

10.6 वित्तीय संकटकाल

वित्तीय संकटकाल की स्थिति में राज्यों की आय सीमा, राज्य सूची में चर्चित करें तक ही सीमित रहती है। वित्तीय संकट के प्रवर्तन काल में राष्ट्रपति को संविधान के उन सभी प्रावधानों को स्थगित करने का अधिकार है, जो सहायता अनुदान अथवा संघ के करें की आय में भाग बंटाने से सम्बन्धित हो। केन्द्रीय सरकार वित्तीय मामलों में राज्यों को निर्देश भी दे सकती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 276 के अन्तर्गत राज्यों को वृत्तियों, व्यापारों, अजीविकाओं और नौकरियों पर कर लगाने का प्राधिकार दिया गया है। सत्य/असत्य
2. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 275 में उन राज्यों के लिए अनुदान की व्यवस्था है, जिनके बारे में संसद यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है। सत्य/असत्य
3. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 265 में यह व्यवस्था है कि विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर न लगाया जाएगा और न वसूल किया जाएगा। सत्य/असत्य
4. संघीय सरकार को भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने की अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति दी गयी है। सत्य/असत्य

10.7 सारांश

जिस प्रकार से एक गाड़ी को चलाने के लिए उसके दोनों पहियों, के मध्य समन्वय का होना आवश्यक है, उसी प्रकार से केन्द्र तथा राज्यों के मध्य परस्पर समन्वय ही देश को विकास के क्षेत्र में ऊँचाईयों पर ले जा सकता है। स्वतन्त्रता के पश्चात आरम्भिक वर्षों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य परस्पर सहयोग की भावना थी, किन्तु जैसे-

जैसे समय बीतता गया दोनों के मध्य सम्बन्धों में दरारें दिखनी लगी। इसका एक कारण तो यह था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सभी में अपने देश की सरकार के प्रति चरम सीमा पर उत्साह था, तथा दूसरा कारण यह था कि ज्यादातर राज्यों में कांग्रेस की सरकार थी तथा केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के मध्य बड़े भाई तथा छोटे भाई जैसा रिश्ता था। अतः तनाव न के बराबर था। तनाव उत्पन्न होने का मुख्य कारण राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों का उदय होना था। धीरे-धीरे समय बीतने के साथ-साथ विभिन्न मुद्दों पर केन्द्र तथा राज्यों के मध्य तनाव बढ़ाने के मुख्य कारणों में राज्यपाल की भूमिका भी मुख्य रही है, क्योंकि राज्यपाल सरकारों में संवैधानिक प्रमुख होने के स्थान पर केन्द्रीय एजेंट के रूप में ज्यादा कार्य करने लगे हैं। तनाव का एक और मुख्य कारण अखिल भारतीय सेवाएँ हैं, जिसके कि सदस्यों को नियन्त्रित करने वाली केन्द्र सरकार होती है, जबकि वो कार्य राज्य सरकारों में करते हैं और बगैर केन्द्र की अनुमति के उनके खिलाफ कड़ी कार्यवाही नहीं कर सकती है। तनाव का एक अन्य कारण वित्त भी है। कुछ सरकारें केन्द्र से मिले धन को राज्य के विकास में न लगाकर अपने राजनीतिक जनाधार को बढ़ाने में लगी रहती हैं, जिससे कि केन्द्र द्वारा अक्सर ही विरोध प्रकट किया जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्र-राज्यों के मध्य सम्बन्ध केन्द्र में प्रधानमंत्री की स्थिति के ऊपर भी निर्भर करता है। 1990 के पश्चात केन्द्र में ज्यादातर सरकारें कमजोर रही हैं, उसका सबसे बड़ा कारण सांझा सरकार का होना रहा है। केन्द्र में सरकार राज्यों के क्षेत्रीय दलों के सहयोग से बनायी जा रही हैं, जिसकी वजह से समर्थन देने वाली पार्टी से केन्द्र सरकार ब्लैक-मेल होती रहती है। इसके उदाहरण हमको दिन-प्रतिदिन देखने को मिलते रहते हैं। यदि हमको वास्तव में अपने देश को तरक्की की राह पर ले जाना है तो केन्द्र सरकारों का राज्यों सरकारों के मध्य विवाद रहित तथा स्वार्थ रहित सम्बन्ध होने चाहिये।

संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से प्रशासनिक, विधायी तथा वित्तीय क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से विभाजित किया गया है और यह विभाजन संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची के माध्यम से किया गया है। इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में भी केन्द्र तथा राज्यों के मध्य सम्बन्धों को बताया गया है। स्पष्ट विभाजन के बावजूद भी विभिन्न क्षेत्रों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य कठिनाइयाँ आती हैं। यह कठिनाइयाँ वहाँ अवश्य उत्पन्न होती हैं, जहाँ केन्द्र तथा राज्यों में अलग-अलग पार्टी की सरकारें होती हैं। देश की तरक्की के लिए केन्द्र तथा राज्यों के मध्य मधुर सम्बन्ध का होना अत्यन्त आवश्यक है।

10.8 शब्दावली

अपूर्व दृष्ट- पहले से ना सोचा हुआ, उदग्रहित- जो वसूल हो सके

10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य, 4. सत्य

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत का संविधान, ब्रज किशोर शर्मा, 2008, ए प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया प्राइवेट लि0, नई दिल्ली।
 2. भारत में लोक प्रशासन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
 3. भारतीय प्रशासन, प्रो0 मधू सूदन त्रिपाठी, 2008, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
 4. इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया और डॉ0 कुलदीप फाड़िया, 2007, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
-

10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, अवस्थी एवं अवस्थी, 2009, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
 2. इंडियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, रमेश अरोड़ा, रजनी गोयल, 2001, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
 3. भारत का संविधान, डॉ0 जी0एस0 पाण्डेय 2001, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर।
-

10.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों की विवेचना कीजिये।
 2. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य प्रशासनिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालिये।
 3. केन्द्र तथा राज्यों में मध्य वित्तीय सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।
 4. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विवाद के क्षेत्रों का वर्णन कीजिये।
-

इकाई- 11 राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मंत्री-परिषद

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 राज्यपाल

11.2.1 राज्यपाल की नियुक्ति

11.2.2 नियुक्ति के लिए अर्हताएं

11.2.3 कार्यकाल एवं पदमुक्ति

11.2.4 वेतन एवं भत्ते

11.2.5 शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.1 प्रशासन सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.2 विधायन सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.3 वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.4 न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.5 विवेक सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.6 राज्यपाल की स्थिति

11.3 मुख्यमंत्री

11.3.1 मुख्यमंत्री की नियुक्ति

11.3.2 मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ

11.3.3 मुख्यमंत्री और मंत्री-परिषद

11.3.4 मुख्यमंत्री और विधानमण्डल

11.3.5 मुख्यमंत्री और राज्यपाल

11.3.6 मुख्यमंत्री की वास्तविक स्थिति

11.4 मंत्री-परिषद

11.4.1 संगठन

11.4.2 शक्तियाँ, कार्य और उत्तर दायित्व

11.5 सारांश

11.6 शब्दावली

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.10 निबन्धात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

भारत के संविधान द्वारा अपनायी गयी संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रशासन के तीन स्तर हैं- केन्द्रीय प्रशासन, राज्य प्रशासन एवं संघीय प्रशासन। प्रशासन के इन तीनों स्तरों में राज्य वह महत्वपूर्ण कड़ी है, जो स्थानीय शासन को केन्द्रीय प्रशासन से जोड़ने का कार्य करते हैं। भारत के राज्यों में भी संघ की व्यवस्था का ही एक लघु रूप देखने को मिलता है। जिस प्रकार केन्द्र में संसद होती है, ठीक उसी प्रकार राज्य में विधानमण्डल होता है।

विधानमण्डल में दो सदन होते हैं, पहला- उच्च सदन जो विधान परिषद कहलाता है और दूसरा- निम्न सदन जो विधान सभा कहलाता है। अधिकतर भारतीय राज्यों में निम्न सदन विधान सभा है। विधान सभा का नेता मुख्यमंत्री कहलाता है और वह राज्य का वास्तविक प्रधान होता है। मुख्यमंत्री, मंत्री-परिषद के सहयोग से राज्य का प्रशासन चलाते हैं। अर्थात् राज्य की कार्यकारी निकाय मंत्री-परिषद होती है। मंत्री-परिषद में विधान सभा तथा विधान परिषद के सदस्य ही हो सकते हैं। राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रधान राज्यपाल होता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में ही निहित होती है और राज्य के सभी कार्य राज्यपाल के नाम से किये गये जाते हैं। इस प्रकार एक राज्य के मुख्य स्तम्भों में राज्यपाल, मुख्यमंत्री एवं मंत्री-परिषद होते हैं।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्यपाल के कार्यों एवं उसकी स्थिति की विवेचना कर सकेंगे।
- मुख्यमंत्री की नियुक्ति एवं वास्तविक कार्यपालक के रूप में उसके कार्यों की व्याख्या कर सकेंगे।
- मंत्री-परिषद के गठन एवं कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।

11.2 राज्यपाल

हमारे संविधान में परिसंघीय शासन व्यवस्था है, जिसमें कि केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्तियों का बंटवारा किया गया है, अर्थात् भारत के राज्यों का प्रशासन केन्द्रीय प्रशासन का प्रतिरूप है। जिस प्रकार से केन्द्र में समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से किये जाते हैं, उसी प्रकार से राज्यों में कार्यपालिका के समस्त कार्य राज्यपाल के नाम से किये जाते हैं। वस्तुतः राज्यपाल इन कार्यों को मंत्री-परिषद के परामर्श से करता है तथा मंत्री-परिषद का मुखिया राज्य का मुख्यमंत्री होता है। अतः राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है, जबकि मंत्री-परिषद राज्य की कार्यपालिका की वास्तविक प्रधान होती है।

भारत में राज्यपाल का चयन अमेरिका की भॉति जनता द्वारा निर्वाचन पद्धति से नहीं होता है, बल्कि हमारे यहाँ राज्यपाल, राष्ट्रपति द्वारा नामजद व्यक्ति होता है। ब्रिटिश शासनकाल में प्रान्तीय सरकार चलाने का कार्य गवर्नर करता था। अतः राज्यपाल के लिए गवर्नर शब्द प्रयुक्त होता है। वर्तमान में राज्यपाल के पास ब्रिटिश शासनकाल की भॉति असीमित शक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि अब राज्यपाल का पद राष्ट्रपति की भॉति केवल नाम मात्र के संवैधानिक प्रमुख का है।

11.2.1 राज्यपाल की नियुक्ति

राज्यपाल पद के सम्बन्ध में संविधान सभा के समक्ष चार विकल्पों पर चर्चा हुई थी-

1. राज्यपाल का सर्वसाधारण जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव किया जाना चाहिये,
2. राज्य विधानमण्डल के निम्न सदन या दोनों सदनों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर राज्यपाल का निर्वाचन किया जाय।

3. निम्न सदन; राज्य की विधान सभा द्वारा चार नामों का सुझाव दिया जाय, जिनमें से किसी एक को राष्ट्रपति के द्वारा राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाय।
4. राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति की जाय।

इन चारों विकल्पों पर संविधान सभा में बहस के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला गया कि चौथा विकल्प, अर्थात् राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर व मुहर सहित आदेशानुसार राज्यपाल को पाँच वर्षों के लिए नियुक्त कर सकता है।

11.2.2 नियुक्ति के लिए अर्हताएँ

संविधान के अनुच्छेद- 157 के अनुसार, किसी भी व्यक्ति को राज्यपाल के रूप में नियुक्ति होने से पूर्व निम्न अर्हताएँ रखनी चाहिये-

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. 35 वर्ष की आयु पूरी का चुका हो
3. संसद या राज्य विधान मण्डलों के किसी सदन का सदस्य न हो।
4. वह किसी लाभ देने वाले सरकारी पद पर कार्यरत न हो।

यदि कोई व्यक्ति राज्यपाल पद पर नियुक्त किया जाता है तथा वह किसी विधानमण्डल का सदस्य है या लोक सेवा में अन्यत्र कार्यरत है तो उसकी राज्यपाल पद पर नियुक्ति होने से पूर्व पद या सदस्यता समाप्त मानी जाती है। संविधान में राज्यपाल हेतु किसी प्रकार की शैक्षणिक या व्यावसायिक योग्यताएँ निर्धारित नहीं की गयी हैं, किन्तु इस पद की नियुक्ति का निर्णय केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की इच्छा पर निर्भर करता है। सामान्यतः राजनीतिक दलों के नेताओं, मंत्रियों, सांसदों, विधायकों, विशिष्ट योग्यता प्राप्त गैर-राजनीतिक व्यक्तियों तथा शिक्षाविद् इत्यादि को इस पद पर नियुक्त किया जाता रहा है। संविधान के लागू होने के पश्चात राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में एक परम्परा का पालन अवश्य किया जाता रहा है, वह यह है कि भारत में किसी भी राज्य में ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल नहीं बनाया जाता है जो उसी राज्य का रहने वाला हो, कुछ एक अपवादों को छोड़कर।

11.2.3 कार्यकाल एवं पदमुक्ति

संविधान के अनुच्छेद-156 के अनुसार राज्यपाल, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपना पद धारण करेगा। सामान्यतया यह कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। वह अपने पद ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष बीत जाने के बाद भी तब तक पद धारण किए रह सकता है, जब तक कि उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले। राष्ट्रपति कभी भी राज्यपाल को पदमुक्त कर सकता है। लेकिन राज्यपाल को हटाने के आधार तथा प्रक्रिया का संविधान में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। व्यावहारिक स्थिति यह है कि केन्द्र एवं राज्य में विपरीत राजनीतिक दलों की सरकारें गठित होने पर राज्यपाल हटाये जाते रहे हैं।

11.2.4 वेतन एवं भत्ते

राज्यपाल को संसद द्वारा निर्मित विधि द्वारा निर्धारित उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का अधिकार होता है। राज्य; उपलब्धियाँ, भत्ते और विशेषाधिकार अधिनियम-1982 द्वारा राज्यपाल की उपलब्धियाँ 5500 ₹0 प्रतिमाह निर्धारित की गयी थी। वर्तमान में यह 01 लाख 10 हजार रुपये प्रतिमाह है। इसके अतिरिक्त वह किराया रहित आवास का भी हकदार होता है। राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते उसके पद की अवधि में नहीं घटाये जा सकते हैं।

11.2.5 शक्तियाँ और कार्य

सुगमता से अध्ययन करने के लिए राज्यपाल की शक्तियों और कार्यों को निम्न शीर्षकों के अधीन रखा जा सकता है-

11.2.5.1 प्रशासन सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

सबसे पहले हम राज्यपाल की प्रशासकीय शक्तियों का अध्ययन करेंगे जो इस प्रकार हैं-

1. वह राज्य सरकार का प्रशासकीय अध्यक्ष है। राज्य की सारी कार्यपालिका सत्ता उसी के पास है, जिसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीन अधिकारियों द्वारा करता है। राज्य के समस्त प्रशासकीय कार्य उसी के नाम से किए जाते हैं। वह सरकार की कार्यवाही चलाने तथा अपने मंत्रियों के बीच काम बांटने के बारे में नियम बनाता है।

2. वह मुख्यमंत्री को नियुक्ति करता है तथा उसकी राज्य से अन्य मंत्रियों को नियुक्त करके मंत्री-परिषद बनाता है। वही उनको पद व गोपनीयता की शपथ दिलाता है तथा उनके त्यागपत्र स्वीकार करता है। वह अपनी मंत्री-परिषद भंग कर सकता है।
3. वह उच्च अधिकारियों को नियुक्त करता है। जैसे- राज्य का महाधिवक्ता, लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष व सदस्यगण आदि तथा अपने राज्य के उच्च न्यायालय के जजों की नियुक्ति में राष्ट्रपति को परामर्श देता है।
4. उसे सूचित रहने का अधिकार है, इसलिए मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि राज्य के प्रशासन के बारे में उसे आवश्यक सूचना देता रहे। राज्यपाल इस बारे में मुख्यमंत्री से कोई भी आवश्यक सूचना माँग सकता है। वह मुख्यमंत्री से यह कह सकता है कि अमुक मंत्री का निर्णय मंत्री-परिषद् के विचार के लिए रखा जाय यदि उस पर मंत्री-परिषद ने कोई फैसला नहीं दिया है।
5. वह राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेज सकता है कि राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो चुका है। इसलिए वह संविधान के अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राज्य में पूर्ण या अर्द्ध-संकटकाल घोषित करने की सिफारिश कर सकता है। यदि राष्ट्रपति राज्य में संकटकाल की घोषणा कर दे, तब राज्यपाल राष्ट्रपति के दूत के रूप में कार्य करता है और वहाँ का प्रशासन चलाता है।
6. वह राज्य के विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति के रूप में कार्य करता है।

इस तरह संविधान के अनुच्छेद- 154 के अनुसार, राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल के हाथ में होती है। अनुच्छेद- 166 के अनुसार, राज्य प्रशासन को सुविधाजनक ढंग से चलाने के लिए आवश्यक नियमावली राज्यपाल बनाता है। भारत के गवर्नर को उसके कार्य के अनुरूप विभिन्न मॉडलों में प्रस्तुत किया जा सकता है। एक तरफ जहाँ राज्यपाल राज्य प्रमुख के रूप में कार्य करता है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में भी उसे देखा जा सकता है। राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में वह कुछ विशिष्ट संवैधानिक कर्तव्यों का निर्वाह करता है, जिसमें राज्य विधायिका द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ स्वीकार करना और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने से सम्बन्धित प्रतिवेदन राष्ट्रपति को सौंपना।

राज्य के प्रशासनिक प्रमुख के रूप में राज्यपाल को प्रमुख विविध रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है।

औपचारिक या नाममात्र का राज्य प्रमुख, भारतीय संसदात्मक शासन व्यवस्था में जनता के चुने गये प्रतिनिधियों को वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ दी गयी हैं। संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार राज्यपाल मुख्यमंत्री और उसके मंत्री-परिषद की सलाह से ही अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता है और इस प्रकार उसे लगभग पूरी तरह मुख्यमंत्री और उसके दल पर निर्भर रहता है।

विशिष्ट दायित्वों का निर्वाह करने वाले राज्य, प्रमुख के रूप में असम का राज्यपाल, खनन रायल्टी में साझेदारी से सम्बन्धित विवादों पर अपने विवेक का इस्तेमाल करता है तथा इसी प्रकार नागालैंड के राज्यपाल को राज्य में शांति-व्यवस्था कायम करने की विशेष जिम्मेदारी का पालन करना होता है और इन सभी कर्तव्यों को निभाने के लिए मंत्री-परिषद की सलाह लेना उसके लिए अनिवार्य नहीं होता।

एक प्रशासक के रूप में राज्यपाल, राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद राष्ट्रपति की ओर से एक प्रशासक के तौर पर अपना कर्तव्य निभाता है। पूरा मंत्री-परिषद राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल में समाहित हो जाती है। सामान्य परिस्थितियों में भी जब किसी दल को सदन में स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता तब राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता। सदन के पटल पर हारे हुए मंख्यमंत्री की बात पर अमल करने या न करने पर निर्णय लेना और राजनीतिक अनिश्चितता के दौर में अनैतिक दबावों से बचते हुए निष्पक्ष निर्णय लेना राज्यपाल का विशेष कर्तव्य होता है। इस तरह वह परिस्थितिवश विवेकाधिकार प्राप्त कर लेता है।

प्रशासक के रूप में अनेक राज्यपालों ने अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है। गुजरात के राज्यपाल ने अनूसूचित जनजातियों के आर्थिक अधिकारों को सुनिश्चित करने का अथक प्रयास किया। राज्य के डांग जिले में जनजातियों के अधिकारों को बहाल कराने और वन नीति में आवश्यक सुधार कराने का सफल प्रयास राज्यपाल ने किया। 1985 में आंध्रप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल के रूप में डॉ० शंकर दयाल शर्मा ने राज्यपालों के राष्ट्रीय सम्मेलन में केन्द्र सरकार से राज्य के विभिन्न प्रोजेक्टों को स्वीकृत करने की विनती की। जबकि केरल के तत्कालीन राज्यपाल के रूप में बी० बी० गिरी ने केरल के वाजिब अधिकारों के लिए योजना आयोग से जबरदस्त विरोध जताया। श्री गिरी ने जबरदस्त विरोध के कारण योजना आयोग को अपने पूर्व निर्धारित निर्णयों को बदलना पड़ा और केरल को अधिक सहायता राशि आवंटित किया गया। इस तरह अनेक ऐसे उदाहरण भारतीय राजनीति के 50 वर्षों के इतिहास में देखे जा सकते हैं, जिसके माध्यम से राज्यपाल की एक ऐसी तस्वीर उभरती है, जिसे देखकर यह कहा

जा सकता है कि राज्यपाल के लिए संवैधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत सामान्य परिस्थिति में भी महत्वपूर्ण सकारात्मक भूमिका निभा सकता है। अनुच्छेद- 167 के अन्तर्गत राज्यपाल, प्राप्त अधिकारों का इस्तेमाल करके भी वह अपना प्रभाव प्रशासन पर डाल सकता है। परन्तु कभी-कभी राज्यपाल प्रशासनिक कार्यों में अपनी भूमिका प्रत्यक्षतः निभाने लगे, तब वह विवाद का विषय बन जाता है। उदाहरणस्वरूप जून, 1967 में धर्मवीर ने पश्चिम बंगाल के राज्यपाल के रूप में राजभवन में जिलाधीशों और पुलिस अधीक्षकों को बुलाकर निर्देश दिया कि इन अधिकारियों को आईपीसी के प्रावधानों से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि वे अखिल भारतीय सेवा के पदाधिकारी होते हैं और इन्हें देश के प्रति समर्पण दिखाना है, न कि राज्य के प्रति। राज्यपाल का यह कदम खासा विवाद को जन्म दे गया। 1973 में बिहार के तत्कालीन गवर्नर आरडी भण्डारे द्वारा राज्यमंत्रियों की खुलेआम आलोचना विवाद का कारण बना। इसी तरह उड़ीसा के गवर्नर के रूप में बीएन पाण्डे की भूमिका और आंध्र प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर के रूप में कुमूदबेन जोशी की भूमिका खासा विवाद का कारण बनी।

अन्ततः यह समझा जा सकता है कि गवर्नर प्रशासनिक प्रमुख के रूप में जहां जनदबाव मापने का बैरोमीटर हो सकता है, वहीं दूसरी ओर अपने अतार्किक और असंतुलित व्यवहार से तनाव और दबाव का जन्मदाता भी हो सकता है।

11.2.5.2 विधायन सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

राज्यपाल को विधायन सम्बन्धी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, यद्यपि वह राज्य विधान-मण्डल का सदस्य नहीं है। जिस प्रकार केन्द्र में राष्ट्रपति और संसद है, उसी तरह राज्य में राज्यपाल और विधान-मण्डल है। यद्यपि राज्यपाल विधान-मण्डल का सदस्य नहीं हो सकता, फिर भी वह उसका अभिन्न अंग है। राज्यपाल को विधायन सम्बन्धी अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं-

1. वह विधान-मण्डल का अधिवेशन बुलाता है, उसे स्थगित करता है तथा विधान सभा को भंग कर सकता है।
2. वह विधान सभा में एंग्लो-भारतीय जाति के एक या दो सदस्य मनोनीत कर सकता है, यदि वह यह समझे कि राज्य के लोकप्रिय सदन में इस जाति को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। वह विधान परिषद में

विधान सभा की सदस्य संख्या के लगभग 1/6 भाग के बराबर सदस्यों को मनोनीत कर सकता है, जिन्हें विज्ञान, साहित्य, कला कौशल, समाज सेवा या सहकारी आंदोलन में विशेष अनुभव प्राप्त हो।

3. यदि किसी चुनाव-क्षेत्र के मतदाता उसके पास शिकायत भेजें कि विधान-मण्डल के अमुक सदस्य में अमुक अयोग्यता है तो वह चुनाव आयोग की रिपोर्ट मंगा कर उस मामले पर अपना निर्णय दे सकता है।
4. वह विधान-मण्डल के एक या दोनों सदनों की संयुक्त बैठक को सम्बोधित कर सकता है या उनके विचार के लिए संदेश भेज सकता है। आम चुनाव के बाद विधान-मण्डल की पहली बैठक और हर वर्ष की पहली बैठक उसके उद्-घाटन भाषण के बाद अपना काम शुरू करती है।
5. उसे वीटो शक्ति प्राप्त है। राज्य विधान-मण्डल द्वारा पास किए गये बिलों पर वह अपनी अनुमति दे भी सकता है, नहीं भी। यदि धन बिल नहीं है तो उसे पुनः विचार करने के लिए विधान-मण्डल को वापस भेज सकता है। स्पष्ट है कि राज्यपाल धन-विधेयक को नहीं रोक सकता। यदि उसके द्वारा वापस किए गये गैर-धन सम्बन्धी बिल को दूसरी बार विधान-मण्डल ने पास कर दिया, चाहे उसकी सिफारिश मानी गयी या नहीं, तो राज्यपाल उन्हें राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखेगा।
6. यदि विधान-मण्डल की बैठक न हो रही हो, तो परिस्थिति की आवश्यकता समझते हुए वह आध्यादेश जारी कर सकता है। आध्यादेश कानून की शक्ति रखेगा। यह राज्य विधान-मण्डल की बैठक शुरू होने से अधिक 06 सप्ताह तक चल सकेगा, या उसे कानून के रूप में बदला जा सकता है। राज्यपाल अपने आध्यादेश को किसी भी समय वापस ले सकता है।
7. राज्यपाल विभिन्न संस्थाओं, जैसे लोक सेवा आयोग, नियंत्रक व लेखा-जोखा परीक्षक आदि की वार्षिक रिपोर्ट पर विचार करने के लिए उसे विधान-मण्डल में पेश करवाता है।

11.2.5.3 वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

वित्त सम्बन्धी राज्यपाल की शक्तियाँ इस प्रकार हैं-

1. राज्यपाल की पूर्व सिफारिश के बिना धन बिल विधान सभा में पेश नहीं किया जा सकता।
2. राज्य का आपातकालीन कोश उनके अधिकाराधीन है और वह आकस्मिक खर्चों को करने के लिए उसमें से अग्रिम भुगतान कर सकता है, जिस पर विधान-मण्डल की स्वीकृति बाद में ली जाएगी।

3. प्रत्येक वित्तीय वर्ष होने से पूर्व वह विधान-मण्डल में सरकारी आय-व्यय का विस्तृत ब्यौरा यानि बजट पेश करवाता है। किसी प्रकार के अनुदान या कर सम्बन्धी प्रस्ताव की माँग सिवाय मंत्रियों के और कोई भी सदस्य नहीं कर सकता जो राज्यपाल के नाम से कार्य करते हैं।

11.2.5.4 न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

इस सम्बन्ध में राज्यपाल की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. वह जिला जजों व अन्य न्यायिक अधिकारियों की नियुक्तियों और पदोन्नति के बारे में मामलों को तय करता है।
2. वह अदालतों द्वारा दण्ड दिए गये अपराधियों को क्षमा कर सकता है, वह उनके दण्ड को घटा भी सकता है, किन्तु यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति का अपराध उस कानून के अन्तर्गत आना चाहिए, जो राज्य सरकार की प्रशासकीय क्षमता के भीतर हो।
3. अपने कार्यकाल में उसे अपने विरुद्ध समस्त दीवानी और फौजदारी कानून से सम्बन्धी कार्यवाहियों से वैयक्तिक मुक्ति प्राप्त है।

11.2.5.5 विवेक सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

राज्यपाल को कुछ विशेष शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, जिनके प्रयोग के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने मंत्री-परिषद के परामर्श से काम करे, जैसे-

1. असम के राज्यपाल को आदिम जातियों वाले क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में विवेक की शक्तियाँ प्राप्त हैं।
2. यदि राष्ट्रपति किसी राज्यपाल को पड़ोसी केन्द्र द्वारा शासित केन्द्र का प्रशासक नियुक्त कर दे, तो वहाँ वह अपनी सत्ता का प्रयोग स्वतंत्र रूप से करेगा।
3. नागालैंड के राज्यपाल को विरोधी नागाओं की हिंसात्मक क्रियाओं से निपटने के लिए विशेष उत्तर दायित्व सौंपे गये हैं। इसी प्रकार, राज्य में शांति व सभी क्षेत्रों के लोगों के सामाजिक व आर्थिक कल्याण के लिए सिक्किम के राज्यपाल को विशेष उत्तरादायित्व दिए गये हैं।
4. वह राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के बारे में विचार कर सकता है और अपने सुझावों के साथ राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेज सकता है, चाहे उसका मत मुख्यमंत्री के दृष्टिकोण के अनुकूल हो या नहीं।

5. राज्य के विधान-मण्डल के पास होने के बाद वह किसी बिल को राष्ट्रपति के विचारार्थ इस आधार पर सुरक्षित सकता है कि यह केन्द्र के किसी कानून या नीति से टकरा सकता है।
6. यदि केन्द्र व राज्य की सरकारों के बीच अपनी-अपनी प्रशासकीय सत्ता के अधिकार क्षेत्र पर किसी प्रकार का संघर्ष हो तो राज्यपाल अपने विवेकानुसार काम कर सकता है।
7. किसी महत्वपूर्ण विषय पर अध्यादेश जारी करने से पूर्व वह राष्ट्रपति से निर्देश प्राप्त कर सकता है।
8. वह पराजित या अपराजित मुख्यमंत्री की राय पर विधान सभा भंग कर सकता है।

11.2.6 राज्यपाल की स्थिति

राज्यपाल की स्थिति या भूमिका के सम्बन्ध में सामान्य तौर पर परस्पर दो विरोधी दृष्टिकोण प्रचलित रहे हैं। इनमें से प्रथम में राज्यपाल को राज्य का केवल संवैधानिक अध्यक्ष माना गया है और द्वितीय में इस बात पर बल दिया गया है कि राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की अपेक्षा राज्यपाल बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। राज्यपाल की सही स्थिति जानने के लिए इन दोनों बिन्दुओं को जान लें-

1. **राज्यपाल संविधानिक प्रधान के रूप में-** संविधान द्वारा शासन की शक्तियाँ ऐसी मंत्री-परिषद में निहित होती हैं, जो विधायिका के निम्न सदन के प्रति उत्तर दायी हों। अतः मंत्री-परिषद ही राज्य की प्रधान है और राज्यपाल केवल संवैधानिक प्रधान। संविधान निर्माताओं ने जिस प्रकार से राज्यपाल पद के सम्बन्ध में निर्वाचन के सिद्धान्त को अस्वीकार करके मनोयन के सिद्धान्त को अपनाया गया है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे राज्यपाल को एक संवैधानिक अध्यक्ष ही बनाना चाहते थे, वास्तविक नहीं।
2. **संवैधानिक अध्यक्ष से अधिक-** प्रथम दृष्टिकोण में राज्यपाल को एक संवैधानिक प्रधान बताया गया है। लेकिन यदि राज्यपाल की स्थिति का विस्तृत अध्ययन किया जाए, तो यह धारणा खत्म हो जाती है। संविधान सभा के वाद-विवादों के अध्ययन के स्पष्ट होता है कि संविधान निर्माताओं की धारणाओं के अनुसार सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल एक संविधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा, लेकिन विशेष परिस्थितियों में उसकी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। एम0 वी0 पायली के अनुसार, राज्यपाल मंत्रिमण्डल का सूझबूझ वाला परामर्शदाता है जो राज्य की अशांत राजनीति में शांत वातावरण

तैयार कर सकता है। डी0डी0 बसु और एम0सी0 शीतल बाई ने अपनी रचनाओं में राज्यपाल की स्वविवेक शक्ति का वर्णन किया है।

3. **मुख्यमंत्री की नियुक्ति-** राज्यपाल राज्य की विधान सभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने वाले और उसके नेता को ही मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। लेकिन यदि राज्य की विधान सभा में दलीय स्थिति स्पष्ट नहीं है या बहुमत वाले दल में नेता पद के लिए एक से अधिक दावेदार हैं, तो इस सम्बन्ध में राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति में स्वयं राज्यपाल के द्वारा ही निर्णय किया जायेगा कि किस व्यक्ति को राज्य की मुख्यमंत्री बनाया जाये। भारतीय राजनीति में ऐसे अनेक उदाहरण आये हैं, जब राज्यपाल स्वविवेक से राज्यों में मुख्यमंत्री नियुक्त किये हैं।
4. **मंत्रिमण्डल को भंग करना-** राज्यपाल को यह भी शक्ति प्राप्त है कि वह मंत्री-परिषद को अपदस्थ कर राष्ट्रपति से यह सिफारिश करे कि संबंधित राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाये। इस प्रकार का उदाहरण भारतीय राजनीति में अनेकों बार आया है, जबकि राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा की। 1995 में बहुजन समाज पार्टी द्वारा मुलायम सिंह यादव सरकार से समर्थन ले लेने के बाद मुलायम सिंह समर्थक गुंडागर्दी पर उतर आये। इसके पश्चात राज्य में अराजक स्थिति फैल गयी। राज्यपाल मोतीलाल वोहरा ने मुलायम सिंह यादव को बर्खास्त कर मायावती को मुख्यमंत्री बनाया।
5. **विधान सभा का अधिवेशन बुलाना और भंग करना-** सामान्य रूप से राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श पर विधान सभा का अधिवेशन बुलाता है। किन्तु असाधारण परिस्थितियों में राज्यपाल स्वविवेक से भी अधिवेशन बुला सकता है। राज्यपाल की शक्तियाँ व कार्यों का व्यापक निरूपण यह दिखाता है कि वह राष्ट्रपति की तरह नाममात्र का अध्यक्ष है। इसका कारण इस तथ्य में देखा जाना चाहिए कि दोनों अपने-अपने प्रशासनिक संरचनाओं में नामधारी अध्यक्ष हैं। अतः यह कहा जाता है कि केन्द्र पर संसदीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति को जो स्थिति प्राप्त है, वही राज्य के शासन में राज्यपाल की है, क्योंकि प्रान्तीय स्तर पर भी संसदीय शासन प्रणाली स्थापित की गयी है।

11.3 मुख्यमंत्री

संविधान के अनुसार भारत में राज्यों के शासन के लिए संसदीय ढाँचे की व्यवस्था की गयी है, यह ढाँचा केन्द्रीय सरकार के समान ही है। जिस प्रकार से केन्द्र में राष्ट्रपति की औपचारिक प्रधान और प्रधानमंत्री को वास्तविक प्रधान बनाया गया है उसी प्रकार राज्य प्रशासन में राज्यपाल औपचारिक प्रधान एवं मुख्यमंत्री वास्तविक प्रधान होता है। राज्य में मुख्यमंत्री की स्थिति उस राज्य की राजनीतिक स्थिति पर निर्भर करती है। मुख्यमंत्री के व्यक्तित्व एवं उसकी सृढ़ राजनीतिक स्थिति पर ही राज्य विशेष का आर्थिक विकास, सामाजिक उन्नति और व्यवस्था निर्भर है। यह सिद्ध हो चुका है कि शक्तिशाली मुख्यमंत्री स्थायी नीतियों का निर्माण करके राज्य के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

11.3.1 मुख्यमंत्री की नियुक्ति

संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्य के राज्यपाल करते हैं। मुख्यमंत्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल यह सुनिश्चित करते हैं कि उसे राज्य विधान सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होगा अथवा नहीं। जहाँ पर मुख्यमंत्री को पूर्ण बहुमत मिलता है, वहाँ पर राज्यपाल को किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है, परन्तु जब राज्य विधान सभा के चुनावों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता है तो उस समय राज्यपाल स्वविवेक के द्वारा सबसे बड़े दल के मुखिया को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित करता है। इस स्थिति में राज्यपाल का स्वविवेक ही मुख्य होता है, क्योंकि चुनाव के पश्चात तमाम दल सत्ता के लालच में गठबन्धन बना लेते हैं। अतः यहाँ पर राज्यपाल, चुनाव पूर्व हुए गठबन्धन के नेता अथवा चुनाव के पश्चात हुए गठबन्धन के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना है। यदि केन्द्र में और राज्य में एक ही दल होते हैं, तो इस प्रकार की कोई समस्या नहीं होती है क्योंकि, मुख्यमंत्री कौन बनेगा इसका निर्णय सामान्यतया केन्द्र सरकार के लोग ही करते हैं।

11.3.2 मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ

मुख्यमंत्री राज्य मंत्री-परिषद का गठन करता है। वह अपने मंत्रिमण्डल के सदस्यों के बीच विभागों का वितरण करता है। मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह मंत्रियों के आपसी विवादों तथा मतभेदों को सुलझाता है। वह विधान सभा का नेता होता है। वह विधान सभा के अध्यक्ष से परामर्श करके विधायी कार्यक्रम तैयार करता है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को परामर्श देकर विधान सभा को विघटित करा दे। वह

सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है और राज्य की नीतियों के निर्धारण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्य प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर जिन व्यक्तियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होती है, वस्तुतः उसका चयन मुख्यमंत्री ही करता है। संक्षेप में, मुख्यमंत्री पांच प्रकार के प्रमुख कार्य करता है-

1. मंत्रिमण्डल का अध्यक्ष होने के कारण वह मंत्रिमण्डल का गठन करता है।
2. मंत्रिमण्डल का अध्यक्ष होने के नाते वह मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है।
3. राज्यपाल को राज्य शासन या व्यवस्थापन सम्बन्धी मंत्रिमण्डल के निर्णयों से अवगत कराता है।
4. कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होने के कारण उसे समस्त प्रशासन के निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है।
5. विधान सभा में शासकीय नीतियों तथा कार्यों की घोषणा और स्पष्टीकरण करने का उत्तर दायित्व मुख्यमंत्री पर ही है। राज्य का पूरा शासनतंत्र उसी के संकेतों पर संचालित होता है। वह राज्य शासन का कप्तान है और राज्य मंत्रिमण्डल में उसकी विशेष स्थिति होती है। उसके कार्यों एवं दायित्वों की दृष्टि से उसे प्रधानमन्त्री का लघु रूप कहा जा सकता है।

11.3.3 मुख्यमंत्री और मंत्री-परिषद

मुख्यमंत्री के परामर्श से ही राज्यपाल द्वारा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है। मंत्री-परिषद में विभागों का वितरण करना, मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करना, किसी भी मन्त्री से उसके विभाग की सूचना प्रेषित करने को कहना, मन्त्रियों के आपसी मतभेदों तथा विवादों को सुलझाना, इत्यादि सभी कार्य मुख्यमंत्री के ही हैं। मुख्यमंत्री मंत्री-परिषद का नेता होता है। यदि किसी मन्त्री से उसका मतभेद हो जाता है, तो उस मन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ता है। मुख्यमंत्री के त्यागपत्र देने पर पूरी मंत्री-परिषद ही भंग हो जाती है।

भारत में राजनीतिक आचरण में यह सिद्ध हो चुका है कि मंत्री-परिषद के निर्माण में मुख्यमंत्री को अनेक तरह के दबावों में निर्णय करना होता है और संविद मंत्रिमण्डल के समय में मुख्यमंत्री को संविद के निर्माणकारी दलों के दबाव में सन्तुलित कार्य करते हुए मंत्रिमण्डल का निर्माण करना पड़ता था। कांग्रेस दल के मुख्यमंत्री को प्रधानमन्त्री और हाईकमान के मार्ग-निर्देशन में ही कार्य करना पड़ता है। सन् 1971 के पश्चात अधिकांश मुख्यमंत्रियों ने हाईकमान की मन्त्रणा से ही राज्य मंत्रिमण्डल का गठन किया है। राज्य मंत्रिमण्डल लघु बनाये जायें या बड़े, उसका कब विस्तार किया जाये, आदि निर्णय भी हाईकमान के हाथों में ही केन्द्रित हो गये हैं।

11.3.4 मुख्यमंत्री और विधान-मण्डल

मुख्यमंत्री बहुमत दल के नेता के रूप में राज्य विधान सभा का भी नेतृत्व करता है। वह विधान सभा के प्रति उत्तर दायी है और विधान सभा अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा उसे अपदस्थ कर सकती है। विधान सभा में सरकार की नीति से सम्बन्धित अधिकृत भाषण मुख्यमंत्री का ही होता है। राज्य विधान सभा में विधि-निर्माण की कार्यवाही के संचालन में भी मुख्यमंत्री की प्रभावशाली भूमिका रहती है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को सलाह देकर विधान सभा को भंग करा दे। मार्च 1971 में तमिलनाडु के मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से अनुरोध कर विधान सभा को भंग करवाया। 21 जनवरी, 1972 को हरियाणा के मुख्यमंत्री बंशीलाल ने राज्यपाल से निवेदन कर विधान सभा भंग करवायी। सन् 1972 में श्रीमती नन्दिनी सत्पथी के परामर्श से ही राज्यपाल ने उड़ीसा विधान सभा को भंग किया। सन् 1984 में मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े के परामर्श से ही राज्यपाल ने कर्नाटक विधान सभा को भंग किया था। मार्च 1992 में मुख्यमंत्री वाम्जो के परामर्श से ही राज्यपाल एम0एम0 थामस ने नागालैण्ड विधान सभा को भंग किया। अनेक मुख्यमन्त्रियों ने अपने इस अधिकार का प्रयोग समय-समय पर किया है।

11.3.5 मुख्यमंत्री और राज्यपाल

मुख्यमंत्री, मंत्री-परिषद और राज्यपाल के बीच की कड़ी है। संविधान के अनुच्छेद-167 के अनुसार राज्य के मुख्यमंत्री का कर्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित मंत्री-परिषद के सभी निर्णयों और व्यवस्थापन के प्रस्तावों की सूचना राज्यपाल को दे। मंत्री-परिषद द्वारा एक बार निर्णय लेने पर सामान्यतया राज्यपाल उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है, किन्तु कतिपय परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्री-परिषद के बिना ही कार्य कर सकता है। उदाहरण के लिए, राज्य में संवैधानिक व्यवस्था की विफलता की स्थिति में राज्यपाल संकटकाल की घोषणा किये जाने पर विवेक का आधार पर कार्य कर सकता है।

यह भी परम्परा स्थापित हो गयी है कि राज्यपालों की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाये। चतुर्थ जन निर्वाचन से पूर्व इस परम्परा का पालन हुआ था, किन्तु संविद सरकारों के मुख्यमंत्रियों ने यह आरोप लगाया था कि उनके राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श नहीं किया गया। बिहार में श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति के समय मुख्यमंत्री श्री महामाया प्रसाद से एवं उत्तर प्रदेश में डॉ० बी० गोपाल रेड्डी की राज्यपाल पद पर नियुक्ति के समय मुख्यमंत्री श्री चरणसिंह से परामर्श नहीं लिया गया।

अक्टूबर 1983 में पं० बंगाल के राज्यपाल बी०डी० पाण्डे का पंजाब में स्थानान्तरण कर दिया गया। पं० बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु श्रीनगर में थे और केन्द्रीय गृहमंत्री प्रकाश चन्द्र सेठी ने टेलीफोन से बसु को इस निर्णय की सूचना दी। मुख्यमंत्री बसु ने उनके राज्य के राज्यपाल को स्थानान्तरित एवं नये राज्यपाल की नियुक्ति के पूर्व उनसे परामर्श न किये जाने के सामान्य शिष्टाचार का पालन न करने की शिकायत की थी।

11.3.6 मुख्यमंत्री की वास्तविक स्थिति

यदि स्वाधीन भारत के मुख्यमंत्रियों की भूमिका का वर्गीकरण किया जाये तो उनकी पाँच श्रेणियाँ बनायी जा सकती हैं-

1. **शक्तिशाली मुख्यमंत्री-** प्रथम श्रेणी में उन मुख्यमंत्रियों को रखा जा सकता है, जो शक्तिशाली एवं प्रभावशाली राज्य नेता थे। ऐसे मुख्यमंत्रियों का केन्द्रीय सरकार व हाईकमान पर पर्याप्त प्रभाव था। वे विधान मण्डल के नेता और राज्य की जनता में लोकप्रिय रहे हैं। उन्हें 'किंग मेकर्स' कहा जा सकता है। श्री नेहरू और श्री शास्त्री जी के देहान्त के उपरान्त उनके उत्तराधिकारी के चयन के मामले पर जो तोड़-मोड़ हुई, उनमें शक्तिशाली मुख्यमंत्रियों की उपक्रमिक भूमिका रही। इस श्रेणी में डॉ० बी०सी० राय, श्री गोविन्द बल्लभ पन्त, श्री रविशंकर शुक्ल, श्री कृष्ण सिन्हा, श्री मोरारजी देसाई, श्री कामराज, श्री चन्द्रभानु गुप्त, श्री मोहनलाल सुखाड़िया तथा श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र, सुश्री मायावती आदि, जैसे मुख्यमंत्री को रखा जा सकता है।
2. **विवादास्पद मुख्यमंत्री-** द्वितीय श्रेणी में वे सभी मुख्यमंत्री आते हैं, जिनका व्यक्तित्व विवादास्पद कहा जा सकता है, जिस पर भ्रष्टाचार के अनेक आरोप लगाये गये। श्री प्रताप सिंह कैरो, श्री बीजू पटनायक, श्री करुणानिधि, श्री कृष्ण वल्लभ पन्त सहाय, श्री बंसीलाल, श्री मुलायम सिंह यादव, श्री लालू प्रसाद यादव, सुश्री जयललिता, आदि ऐसे ही मुख्यमंत्री कहे जा सकते हैं। श्री अब्दुल रहमान अन्तुले, श्री जगन्नाथ मिश्र, श्री भजनलाल, आदि को भी विवादास्पद मुख्यमंत्री कहा जाता है। इनमें से अधिकांश के विरुद्ध जाँच आयोग भी बैठायें गये, ताकि उनके आरोपों की जाँच की जा सके।
3. **घटकों की शक्ति पर टिके मुख्यमंत्री-** जनता पार्टी की शक्ति का आधार उनके घटक दलों की संख्या बल था। भैरोसिंह शेखावत और वीरेन्द्र कुमार सकलेवा टिके रहे, क्योंकि इनके राज्यों में जनसंघ घटक

का स्पष्ट बहुमत था। रामनरेश यादव, कर्पूरी ठाकुर और देवीलाल को हटना पड़ा, क्योंकि इनके घटकों को राज्य विधान सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था।

4. **केन्द्रीय सरकार के दूत की भूमिका वाले मुख्यमंत्री-** कतिपय ऐसे व्यक्ति भी मुख्यमंत्री रहे हैं, जिनकी जड़ें राज्य की राजनीति में न होकर हाईकमान के विश्वास और सहानुभूति पर टिकी रहती हैं। इस श्रेणी में श्री प्रकाश चन्द्र सेठी, श्री अब्दुल गफूर, श्री घनश्याम ओझा, श्री जगन्नाथ पहाड़िया, श्री अर्जुन सिंह आदि को लिया जा सकता है।
5. **दुर्बल मुख्यमंत्री-** संविद सरकारों के युग में कार्य करने वाले मुख्यमंत्री को अत्यन्त निर्बल मुख्यमंत्री कहा जा सकता है। उत्तर प्रदेश में श्री चरण सिंह, मध्य प्रदेश में श्री गोविन्द नारायण सिंह, बंगाल के श्री अजय मुखर्जी, आदि ऐसे ही कठपुतली मुख्यमंत्री कहे जा सकते हैं। ऐसे मुख्यमंत्री की परवाह न तो मन्त्रीगण करते हैं, न विधान सभा और न राज्यपाल ही। ऐसे मुख्यमंत्री का कार्य एक 'पोस्टमैन' से अधिक नहीं हो सकता। यह बात सर्वविदित है कि संविद मुख्यमंत्री के काल में नौकरशाही के प्रभाव तथा दबाव में भी बेजोड़ रूप में वृद्धि हुई।

सत्ता की राजनीति में मुख्यमंत्री की स्थिति राजनीतिक उतार-चढ़ाव के साथ बदलती रही है। एक समय था जब मुख्यमंत्री शक्ति के पुंज थे, किन्तु कुछ समय से मुख्यमंत्री के पद का लगातार अवमूल्यन हो रहा है। संविद सरकारों के काल में तो मुख्यमंत्री एकदम अशक्त ही बन गये। संविद सरकारें अधिक टिकाऊ नहीं थी। और मुख्यमंत्री का अधिकांश समय अपने अस्तित्व की सुरक्षा में ही व्यतीत हो जाता था। इससे राज्यों में प्रशासनिक शून्यता का वातावरण फैला। सन् 1971 के पश्चात अधिकांश मुख्यमंत्री, हाईकमान के संरक्षण में ही पल्लवित एवं पोषित हुए हैं। अतः इस पद की संस्थागत स्वायत्तता: समाप्त हो गयी है।

मुख्यमंत्री की स्थिति तीन बातों पर निर्भर करती है, प्रथम- उसे किस सीमा तक केन्द्रीय नेताओं का संरक्षण एवं सहयोग प्राप्त है? द्वितीय- राज्य की गुटबाजी की राजनीति में उसका गुट कितना सशक्त है? तृतीय- राज्य विधान सभा में उसकी क्या स्थिति है और राज्य के विकासात्मक कार्यों को क्रियान्वित करने में उसकी कितनी अभिरूचि है?

मुख्यमंत्री का पद बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। यदि राज्यपाल दुर्बल व्यक्तित्व वाला है और विधान सभा में मुख्यमंत्री के दल को पर्याप्त बहुमत प्राप्त है और दल में उसकी स्थिति सुदृढ़ है तो मुख्यमंत्री की शक्तियों में स्वतः वृद्धि हो जाती है। वर्तमान में राज्यों में एकदलीय प्रभुत्व के बावजूद भी गुटीय राजनीति की जो प्रवृत्तियाँ उभरी हैं, उसमें कोई भी मुख्यमंत्री अपनी स्थिति के प्रति आस्वस्त नहीं रह सकता।

11.4 मंत्री-परिषद

हमारे संविधान के अनुसार, मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्री-परिषद होगी, जो राज्यपाल को सहायता व परामर्श देगी। राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से किये गये कार्यों के अतिरिक्त अन्य शासन सम्बन्धी कार्यों में मंत्री-परिषद उसे मन्त्रणा देती है।

11.4.1 संगठन

राज्य मंत्री-परिषद का मुखिया मुख्यमंत्री होता है। मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है, जबकि मंत्रिमण्डल के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल, मुख्यमंत्री के सलाह के पश्चात करता है। वास्तव में मुख्यमंत्री अपने सहयोगियों की सूची तैयार करता है और उसको राज्यपाल को देता है, इसके पश्चात राज्यपाल सारे मंत्रियों को पद व गोपनीयता की शपथ दिलाता है। संवैधानिक शब्दों में मुख्यमंत्री और मंत्री-परिषद के सदस्य राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त ही अपने पद पर पदासीन रहते हैं। मंत्री-परिषद में मुख्यतः तीन प्रकार के मंत्री होते हैं। कैबिनेट मंत्री, राज्य मंत्री, उपमंत्री। यह मुख्यमंत्री का विवेक होता है कि किस व्यक्ति को किस प्रकार के मंत्री पद का दायित्व सौंपना है। सामान्यतः यह राजनीतिक परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। यदि सरकार साझा सरकार होती है, तो सहयोगी दलों का हस्तक्षेप मंत्री-परिषद बनाने में रहता है और यदि मुख्यमंत्री पूर्ण बहुमत से सरकार में होता है, तो वह अपनी मर्जी से मंत्री-परिषद के सदस्यों का चुनाव करता है। मंत्री-परिषद में किसी ऐसे व्यक्ति को भी मंत्री बनाया जा सकता है, जो राज्य विधान-मण्डल के किसी भी सदन का सदस्य न हो। नियमानुसार मंत्रियों को 06 मास की अवधि के भीतर ही उसे विधान-मण्डल के किसी भी सदन का सदस्य बन जाना आवश्यक है, अन्यथा उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ेगा।

11.4.2 शक्तियाँ, कार्य और उत्तर दायित्व

मुख्यमंत्री या उसकी मंत्री-परिषद ही राज्य प्रशासन में वास्तविक कार्यपालिका है। मंत्री-परिषद के कार्यों की गणना इस प्रकार की जा सकती है-

1. यह राज्य प्रशासन के लिए नीति का निर्माण करता है, जिसके अनुसार राज्य के कानून तथा राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित निर्देश लागू किये जाते हैं।
2. यह लोक सेवकों की भर्ती सम्बन्धी नीति के बारे में प्रस्तावों पर विचार करता है और उसकी सलाह के अनुसार उनकी नियुक्ति के लिए नियम जारी करता है। यह राज्यपाल को महत्वपूर्ण नियुक्तियों; जैसे राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यगण, राज्य का महान्यायवादी आदि के बारे में परामर्श देता है।
3. यह विधायन के प्रस्तावों पर विचार करता है तथा उन्हें बिल का रूप देकर विधान-मण्डल में पेश करता है, अन्यथा यह सरकार की पराजय समझी जाएगी। यदि असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए तथा विधान-मण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो तो यह राज्यपाल को परामर्श देकर अध्यादेश जारी करा सकता है, जिसमें कानून का बल होता है।
4. यह राज्य सरकार की वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा अर्थात् बजट तैयार करता है और फिर राज्यपाल की सिफारिश के साथ उसे विधान सभा में पेश करता है। बजट को विधान-मण्डल का समर्थन प्राप्त होना चाहिए अन्यथा इसे सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव माना जाएगा।
5. यह तय करता है कि, विधान-मण्डल का अधिवेशन बुलाने व स्थगित करने या विधान सभा को भंग करने के बारे में राज्यपाल को क्या परामर्श दिया जाए। यह राज्यपाल द्वारा विधान-मण्डल में दिये जाने वाले उद्-घाटन भाषण का मसविदा तैयार करती है।
6. यह अनेकों मामलों पर विचार करता है व निर्णय लेता है। जैसे- लोक-सेवकों की सेवा सम्बन्ध नियम, अनुसूचित जातियों व वर्गों के लिए स्थानों का आरक्षण, लोक-सेवा आयोग की रिपोर्ट, राज्य के आकार बदलने से सम्बन्धी केन्द्र का प्रस्ताव पर विचार, कुछ व्यक्तियों के खिलाफ चलते हुए मुकदमे वापस लेना, जाँच, किसी आयोग की नियुक्ति व उसकी रिपोर्ट पर कार्यवाही करना, इत्यादि।

7. चूंकि राज्यों के स्तर पर भी संसदीय शासन-प्रणाली अपनायी गयी है, मुख्यमंत्री के अधीन मंत्री-परिषद, विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से और व्यक्तिगत तौर पर राज्यपाल के प्रति उत्तर दायी है, क्योंकि मंत्रीगण राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की प्रसन्नताकाल में ही पदासीन रह सकते हैं। विधान सभा के सदस्य मंत्री-परिषद से प्रश्न पूछ सके हैं, जिनका संतोषजनक उत्तर मिलना चाहिए। यदि सरकारी बिल गिर जाए, या बजट में कटौती कर दी जाए, या सरकारी नीति को सदन का समर्थन प्राप्त न हो सके या विधान सभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो मंत्री-परिषद को त्यागपत्र देना पड़ेगा। राज्यपाल नई सरकार बनाने का प्रयास करेगा या भारत सरकार को सुझाव देगा कि संविधान के अनुच्छेद- 356 के अनुसार आपातकाल की घोषणा लागू कर दे, जिससे राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सके।

जो बात हमारा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट करती है वह यह है कि राज्य की सरकार केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तर दायी है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि राज्य की सरकारें केन्द्र की कानून तथा राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित निर्देशों को निष्ठा के साथ लागू करने पर बाध्य हैं। यदि केन्द्र सरकार किसी राज्य के आचरण से संतुष्ट न हो, तो वह अपनी ओर से या राज्य के राज्यपाल की रिपोर्ट पर अनुच्छेद- 356 का प्रयोग करके वहाँ की सरकार को अपदस्थ कर सकता है। इसके अलावा, यह केन्द्र की इच्छा पर निर्भर है कि वह पूरी तरह राज्य की सरकार को भंग कर दे या उसे स्थगित संप्राणता की स्थिति में रखे। क्योंकि अनुच्छेद-356 का प्रयोग दलगत राजनीति के दाव-पेंच को देखते हुए किया जाता है। इसीलिए एक उचित ढंग से निर्मित राज्य को केन्द्रीय सरकार अपने शत्रुतापूर्ण भाव से किसी भी समय समाप्त कर सकती है या अपने मित्रतापूर्ण व्यवहार को देखते हुए किसी विफल राज्य सरकार को क्षमा-दान भी कर सकती है। इससे विदित होता है कि राज्य का मंत्री-परिषद अन्तिम रूप से केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तर दायी है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद का दुरुपयोग बहुत हुआ है ?
2. मन्त्रियों को 06 मास की अवधि के भीतर ही उसे विधामण्डल के किसी भी सदन का सदस्य बन जाना आवश्यक है, अन्यथा उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ेगा। सत्य/असत्य
3. संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमंत्री की नियुक्ति उस राज्य के राज्यपाल करते हैं। सत्य/असत्य

-
4. राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रधान होता है। सत्य/असत्य
-

11.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें यह जानने को मिला कि, जिस प्रकार से एक पहिये पर गाड़ी नहीं चल सकती, उसी प्रकार से राज्य प्रशासन बगैर राज्यपाल एवं मंत्री-परिषद के नहीं चल सकता है। भले ही राज्यपाल नाममात्र का प्रधान हो, किन्तु राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री एवं मंत्री-परिषद की गतिविधियों को नियंत्रित करना भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मुख्यमंत्री एवं मंत्री-परिषद किसी पार्टी विशेष के एजेन्डे के तहत राज्य प्रशासन को अपने हित में चला सकते हैं। राज्यपाल का यह कर्तव्य है कि वह राज्य प्रशासन संविधान की आशा के अनुरूप चलाये। अतः राज्य के प्रशासन के लिए दोनों ही आवश्यक अंग हैं।

11.6 शब्दावली

मंत्री-मण्डल- कैबिनेट स्तर के मंत्रियों का समूह।

मंत्री-परिषद - समस्त प्रकार के मंत्रियों का समूह।

कैबिनेट मंत्री- शासन में सर्वोच्च स्तर के मंत्री।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अनुच्छेद 356, 2. सत्य, 3. सत्य, 4. सत्य
-

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत का संविधान, ब्रज किशोर शर्मा, 2008, प्रेंटिस हल आफ इंडिया प्राइवेट लि0, नई दिल्ली।
 2. भारत में लोक प्रशासन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
 3. भारतीय प्रशासन, प्रो0 मधू सूदन त्रिपाठी, 2008, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
 4. इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, डॉ0 कुलदीप फाड़िया, 2007, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
-

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, अवस्थी एवं अवस्थी, 2009, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. इंडियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, रमेश अरोड़ा, रजनी गोयल, 2001, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान, डॉ० जी० एस० पाण्डेय, 2001, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर।

11.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल की शक्तियों का वर्णन कीजिये।
2. राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री की भूमिका का परीक्षण कीजिये।
3. मंत्री-परिषद के गठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिये।

इकाई- 12 राज्य सचिवालय, मुख्य सचिव

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 राज्य सचिवालय

12.2.1 सचिवालय की उपयोगिता

12.2.2 संगठन

12.2.3 सचिवालय का संगठनात्मक ढाँचा

12.2.4 राज्य सचिवालय के कार्य

12.2.5 राज्य सचिवालय की कार्य प्रणाली

12.2.6 राज्य सचिवालय की समस्याएँ

12.3 मुख्य सचिव

12.3.1 मुख्य सचिव पद का उदय

12.3.2 मुख्य सचिव का चयन

12.3.3 राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव के कार्य

12.3.4 मुख्य सचिव की भूमिका

12.4 सारांश

12.5 शब्दावली

12.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

12.9 निबन्धात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

भारत में राज्यों के शासन के लिए संसदीय ढाँचे को अपनाया गया है, राज्यों का प्रशासन संघीय शासन का प्रतिरूप है। राज्य प्रशासन में शीर्ष पर राज्यपाल और मंत्री-परिषद हैं। राज्यपाल औपचारिक कार्यकारी और मंत्री-परिषद वास्तविक कार्यकारी है। मंत्री-परिषद को प्रशासन में सहायता प्रदान करने के लिये राज्यों में संघीय प्रशासन के समान मंत्रिमण्डल समितियां और सचिवालय है। राज्य सचिवालय विभिन्न विभागों में विभक्त होता है, जिसका राजनीतिक प्रमुख, मंत्री और प्रशासनिक प्रमुख, सचिव होते हैं।

शासन द्वारा निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करने, नीतियों तथा योजनाओं को यथार्थ धरातल पर लागू करने एवं विकास और कल्याण कार्यों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए लोक सेवकों की विशाल संख्या कार्यरत रहती है। ये सभी लोक सेवक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सचिवालय के अधीन कार्य करते हैं। सचिवालय ही पूरे प्रदेश में नीति-निर्माण की भूमिका का निर्वहन करता है।

राज्य सचिवालय का प्रमुख, मुख्य सचिव कहलाता है। सामान्यतः यह प्रदेश के आई0ए0एस0 संवर्ग का सबसे वरिष्ठ अधिकारी होता है। मुख्य सचिव का मुख्य कार्य, नीति-निर्माण एवं उसके क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना है।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्य सचिवालय के गठन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राज्य सचिवालय की संरचना की विवेचना कर सकेंगे।
- राज्य सचिवालय के कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।
- मुख्य सचिव के कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।
- प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका का परीक्षण कर सकेंगे।

12.2 राज्य सचिवालय

हमारे देश में सचिवालय की व्यवस्था ब्रिटिश शासन-तन्त्र की विरासत है। जिस प्रकार से केन्द्र सरकार के समस्त मंत्रालयों एवं विभागों का सामूहिक रूप केन्द्रीय सचिवालय कहलाता है, उसी प्रकार राज्य सरकार के समस्त विभाग सम्मिलित रूप से राज्य सचिवालय के नाम से जाने जाते हैं। एक विभाग का राजनीतिक मुखिया, मंत्री तथा प्रशासनिक मुखिया सचिव कहलाता है। सामान्यतः राजनीतिक मंत्रियों के पास प्रशासनिक अनुभव की कमी होती है, उनके इस अनुभव की कमी को प्रशासनतंत्र में कार्यरत कार्मिक पूरी करते हैं। इसके साथ ही सचिवालय प्रशासन में निरन्तरता प्रदान करते हैं। मंत्री तथा सचिव तो आते-जाते रहते हैं, किन्तु सचिवालय सदैव रहता है और प्रशासन की निरन्तरता की बनाये रखता है।

12.2.1 सचिवालय की उपयोगिता

सचिवालय की उपयोगिता को निम्नलिखित आधारों पर समझाया जा सकता है-

1. मंत्रियों को सामान्यतः प्रशासन का अनुभव नहीं होता है। शासन के संचालन में सचिवालय के अधिकारी उनकी सहायता करते हैं।
2. मंत्रीगण समयाभाव के कारण प्रशासनिक कार्यों का संचालन समय से नहीं कर पाते हैं। यह कार्य सचिवालय के अधिकारी निष्पादित करते हैं।
3. सचिवालय एक स्थायी व्यवस्था होती है, जो कि सरकारों के पतन के पश्चात भी प्रशासन को निर्बाध गति से चलाती है।
4. नीति निर्माण, नियोजन, अनुश्रवण एवं मूल्यांकन में सचिवालय मुख्य कार्यकारी की भूमिका का निर्वहन करता है।

12.2.2 संगठन

संविधान के अनुच्छेद- 154(i) के द्वारा राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित की गयी है। जिसका प्रयोग वह अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करता है। वस्तुतः राज्य का मुख्यमंत्री उसकी मंत्री-परिषद तथा सचिवालय एवं अन्य कार्यालयों के अधिकारी राज्यपाल की शक्तियों का व्यावहारिक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार

राज्य प्रशासन का वास्तविक मुखिया मुख्यमंत्री होता है, जो सचिवालय का भी नियंत्रणकर्ता होता है। यह राज्य सरकार की समस्त शक्तियों का केन्द्र-बिन्दु होता है।

शासन सचिवालय, किसी एक विभाग या कार्यालय का नाम नहीं है, अपितु यह राज्य सरकार के समस्त विभागों का शीर्ष स्तर पर सामूहिक नाम है। प्रत्येक राज्य के सचिवालय में विभागों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। विभागों की संख्या का निर्धारण राज्य का मंत्रिमण्डल करता है। वर्तमान में बड़े राज्यों में सामान्यतः 50 से ऊपर विभाग होते हैं। अधिकांश राज्यों में सामान्यतः निम्नलिखित विभाग होते हैं- सामान्य प्रशासन, गृह, राजस्व, खाद्य और कृषि योजना, पंचायती राज, ग्राम्य विकास, वित्त, विधि, सार्वजनिक निर्माण, शिक्षा, उद्योग, ऊर्जा, सिंचाई, सहकारिता, यातायात, स्थानीय शासन, कारागार, श्रम और रोजगार, आबकारी और कर आदि। इसके अतिरिक्त कुछ विभाग किसी राज्य विशेष को आवश्यकता के अनुसार बनाये और समाप्त किये जा सकते हैं। सचिवालय के किसी प्रशासनिक विभाग के अधीन अधीनस्थ कार्यालयों की संख्या उस विभाग के कार्यों एवं प्रकृति पर निर्भर करती है।

12.2.3 सचिवालय का संगठनात्मक ढाँचा

राजनीतिक स्तर	प्रशासनिक स्तर पर
● मुख्यमंत्री ● कैबिनेट मंत्री ● राज्य मंत्री; स्वतंत्र प्रभार/राज्य मंत्री ● उप-मन्त्री	● मुख्य सचिव ● अपर मुख्य सचिव/ ए0पी0सी0 ● प्रमुख सचिव/ सचिव ● विशेष सचिव ● संयुक्त सचिव ● उप-सचिव ● अनुभाग अधिकारी ● यू0डी0ए0 ● एल0डी0ए0

संगठनात्मक दृष्टि से राज्य सचिवालय का मुखिया मुख्यमंत्री होता है, क्योंकि वह मंत्री-परिषद का अध्यक्ष भी होता है। सचिवालय के समस्त विभाग किसी कैबिनेट मंत्री अथवा राज्यमंत्री; स्वतंत्र प्रभार के अधीन होते हैं। बड़े

विभागों में कैबिनेट मंत्री के अधीन राज्य मंत्री भी होते हैं। कई बार एक मंत्री को एक से ज्यादा विभागों का मंत्री भी बनाया जाता है।

प्रशासनिक स्तर पर सचिवालय का मुख्य अधिकारी मुख्य सचिव होता है। प्रत्येक विभाग का मुख्य अधिकारी शासन सचिव या प्रमुख शासन सचिव होता है। इस पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवाओं का 'सुपर टाइम स्केल' का अधिकारी आसीन होता है। सचिव के अधीन विशेष सचिव अथवा अतिरिक्त सचिव होता है। विशेष सचिव के अधीन संयुक्त सचिव होता है, जो कि सामान्यतः राज्य प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारी होते हैं। संयुक्त सचिव के अधीन उप-सचिव, अनुभाग अधिकारी तथा यू0डी0ए0 एवं एल0डी0ए0 तैनात होते हैं। यह सभी अधिकारी सामान्यतः राज्य सचिवालय सेवा के होते हैं।

12.2.4 राज्य सचिवालय के कार्य

राज्य प्रशासन की सर्वोच्च प्रशासनिक संस्था होने के कारण नीति एवं कानून निर्माण तथा अधीनस्थ संस्थाओं पर नियंत्रण का कार्य सचिवालय ही करता है। यहाँ सचिवालय के कार्यों से तात्पर्य सम्पूर्ण सचिवालयी व्यवस्था या राज्य सरकार के किसी एक विभाग के कार्यों से है, क्योंकि सामान्य कार्य सभी विभागों में एक समान हैं, जबकि विशिष्ट कार्य विभागानुसार पृथक प्रकृति के हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप गृह विभाग के कार्यों में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना प्रमुख है, अतः पुलिस अधिकारियों तथा नियामकीय प्रवृत्तियों का बोलबाला रहता है, जबकि समाज कल्याण विभाग का कार्य निराश्रित एवं निर्योग्य व्यक्तियों को कल्याणकारी सेवाएँ उपलब्ध करवाना है। अतः यहाँ मानवीय संवेदनाएँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। लेकिन भारतीय प्रशासनिक-तंत्र की कार्यशैली में विभागीय आधार पर व्यापक स्तर पर अन्तर्गोष्ठ को समझ पाना किंचित कठिन है।

राज्य सचिवालय के सभी विभागों के या किसी एक विभाग के कार्य निम्न होते हैं-

1. **विकास हेतु नीतियों का निर्माण-** सचिवालय का प्रमुख कार्य जन-कल्याण तथा विकास कार्यों को गति प्रदान करने के निमित्त सार्थक नीतियों एवं योजनाएँ तैयार करना है। अधिकांश नीतियाँ किसी एक विभाग के कार्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित होती हैं। ये नीतियाँ सत्तारूढ़ राजनीतिक दल की मान्यताओं, कार्यशैली तथा उसके दृष्टिकोण से प्रभावित होती हैं। तथापि राज्य के संसाधन, जन-समस्याएँ तथा उपलब्ध प्रशासनिक तंत्र इनके निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। जब किसी विभाग की एक

स्पष्ट एवं दूरगामी नीति तैयार एवं स्वीकृत हो जाती है, तब उस विभाग के उद्देश्य और कार्यक्रम मुख्यतः उस विभाग की नीति के इर्द-गिर्द घूमते हैं।

पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाओं के माध्यम से राज्य का सर्वांगीण सामाजिक-आर्थिक विकास सुनिश्चित किया जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर पंचवर्षीय योजनाएँ, योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद के माध्यम से निरूपित होती हैं, लेकिन राज्य के विकास के लिए योजनाओं का स्वरूप, आकार तथा आवश्यक धनराशि स्वीकृत करवाने के लिए राज्य प्रशासन को खासी मेहनत करनी पड़ती है। राज्य के विकास के लिए कतिपय योजनाएँ केन्द्र प्रवर्तित होती हैं, जबकि कुछ कार्यक्रम स्वयं राज्य सरकार द्वारा संचालित एवं वित्त-पोषित होते हैं। इन सभी नीतियों, कार्यक्रमों तथा योजनाओं का आकलन, निर्माण तथा स्वीकृति के क्रम में सचिवालय में कार्यरत मंत्रियों, सचिवों तथा अन्य विशेषज्ञों की भूमिका निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण रहती है।

2. सुशासन हेतु नियमों एवं कानूनों का निर्माण- आधुनिक राज्यों, शासन-व्यवस्थाओं तथा प्रशासनिक कृत्यों का मुख्य आधार कानून है। आज कानूनों के द्वारा ही न केवल व्यक्ति एवं समाज को नियंत्रित किया जाता है, बल्कि प्रवर्तित व्यवस्था को यथावत् रखते हुए विकास की राह पर अग्रसर हुआ जाता है। भारत के संविधान में वर्णित राज्य-सूची के विषयों के सन्दर्भ में कानून एवं नियमों का निर्माण करने हेतु राज्य सचिवालय अपनी अहम् भूमिका निर्वाहित करता है। तात्कालिक समस्याओं या परिस्थितियों के अनुसार नये विधेयक तैयार करना अथवा प्रचलित अधिनियमों में संशोधन करके उन्हें विधायिका में प्रस्तुत करने लायक बनाने से पूर्व तथ्यों, सूचनाओं तथा शासन की नीतियों का विश्लेषण करने का कार्य सचिवालय का है। सचिवालय में उपलब्ध सूचनाएँ एवं दस्तावेज कानूनों तथा नियमों के निरूपण में सहायता प्रदान करते हैं।

3. प्रशासनिक कार्यों का संचालन एवं नेतृत्व- राज्य प्रशासन का शीर्ष प्रशासनिक संस्थान होने के कारण सचिवालय का यह दायित्व है कि वह सभी अधीनस्थ कार्यालयों तथा कार्मिकों के माध्यम से सरकार के कार्यक्रमों तथा कानूनों का कार्यान्वयन सुनिश्चित करे। इस सम्बन्ध में आने वाली बाधाओं तथा शंकाओं का समाधान करना, अधीनस्थ संस्थाओं को पर्यवेक्षण एवं मार्गदर्शन प्रदान करना, चाही

गयी सूचनाएँ एवं संसाधन उपलब्ध करवाना, आपत्तियों का निराकरण करना एवं आवश्यक दिशा-निर्देश प्रदान करने हेतु राज्य की सभी प्रशासनिक संस्थाओं का नेतृत्व करना सचिवालय का कार्य है। चूंकि राज्य सरकार का प्रत्येक प्रशासनिक अभिकरण सचिवालय के किसी न किसी विभाग के अधीन कार्य करता है, अतः प्रशासनिक नियंत्रण का कार्य सचिवालय का जिम्मा है।

4. **मानव संसाधन का विकास करना-** किसी भी संगठन के लिए मानव संसाधन सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि शेष सभी संसाधनों का उपयोग मानव संसाधन अर्थात् कार्मिकों की कुशलता एवं प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है। राज्य प्रशासन में कार्यरत लोक सेवकों; सरकारी कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति, स्थानान्तरण, वेतन एवं भत्ते तथा अन्य आवश्यक सेवा-नियमों और शर्तों का निर्धारण सचिवालय द्वारा किया जाता है। राज्य में नई कार्मिक सेवाओं का गठन, पदों का सृजन, कमी या बढ़ोत्तरी, वेतनमानों में संशोधन, कार्मिक आन्दोलनों पर कर्मचारी नेताओं से वार्ता तथा हड़ताल की स्थिति में प्रशासनिक तंत्र पर नियंत्रण इत्यादि सचिवालयी विभागों का कार्य है।
5. **संस्थाओं के मध्य समन्वय सुनिश्चित करना-** सकारात्मक प्रयासों के रूप में विभिन्न व्यक्तियों या संगठनों के मध्य आपसी सहयोग ही समन्वय है। वर्तमान में प्रशासनिक कार्यों की प्रकृति बहुविभागीय तथा विशिष्टीकरण युक्त है। उदाहरण के लिए जनसंख्या नियंत्रण में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभाग, श्रम एवं उद्योग विभाग तथा शिक्षा विभाग का आपसी तालमेल एवं सामंजस्य अत्यावश्यक है। प्रशासनिक कार्यों या निर्णयों के दौरान एक विभाग का दूसरे विभाग से कई बार संघर्ष एवं विवाद भी हो जाता है। इस प्रकार की अप्रिय स्थितियों से बचने अथवा उन्हें सुलझाने के क्रम में सचिवालय सतत प्रयास करता रहता है। सामान्यतः राज्य सचिवालय निम्न स्तरों पर समन्वय करता है-

- विभिन्न अभिकरणों एवं राज्य प्रशासन के मध्य।
- केन्द्र सरकार के मंत्रालयों/संस्थाओं एवं राज्य सरकार के विभागों के मध्य।
- स्वयंसेवी संगठनों तथा राज्य प्रशासन के मध्य।
- निजी संस्थाओं एवं राज्य सरकार के मध्य।

- दबाव समूहों/संगठनों तथा राज्य सरकार के मध्य।
- राजनीतिज्ञों तथा सरकारी कार्मिकों के मध्य।
- एक ही विभाग के शीर्ष तथा अधीनस्थ कार्यालयों के मध्य।
- आम जनता तथा प्रेस और राज्य प्रशासन के मध्य।
- विभिन्न लोक उपक्रमों, आयोगों, कमेटियों तथा स्वायत्तशासी संस्थाओं के मध्य समन्वय सुनिश्चित करना।

वस्तुतः सचिवालय का कार्य, शासन की नीतियों, विधियों तथा कार्यक्रमों को जनकल्याण हेतु निष्पादित करवाना है। अतः इस सम्बन्ध में जिस स्तर पर कोई भी बांधा उत्पन्न हो, उसका निवारण सचिवालय के द्वारा होता है।

6. बजट निर्माण तथा निष्पादन- वित्त, आधुनिक प्रशासनतंत्र का रक्त है। प्रत्येक छोटा या बड़ा कार्य मुख्यतः वित्तीय संसाधनों पर निर्भर करता है, अतः वार्षिक आय-व्यय का लेखा 'बजट' के रूप में तैयार किया जाता है। प्रत्येक विभाग की स्थानीय शाखाएँ अपना बजट तैयार करके राजधानी स्थित सचिवालय में अपने विभाग के पास भेजती हैं। प्रत्येक विभाग का बजट मद; आइटम के अनुसार तैयार होता है। सचिवालय के विभागों द्वारा तैयार इस बजट को वित्त विभाग एकीकृत स्वरूप प्रदान करता है तथा अन्तिम रूप से कैबिनेट द्वारा स्वीकृत होने पर विधायिका में प्रस्तुत किया जाता है। विधायिका द्वारा स्वीकृति के पश्चात ही राज्य सरकार के विभाग विभिन्न प्रकार के व्यय कर सकते हैं तथा सेवाओं के बदले लगाए गये कर एवं शुल्क एकत्र कर सकते हैं। यदि किसी विभाग को आवंटित किया गया बजट किन्हीं कारणों से कम पड़ता है तो उसकी परिस्थितिजन्य स्वीकृति सचिवालय ही प्रदान करता है।

7. जन-सम्पर्क एवं जन शिकायत निवारण- लोक कल्याणकारी शासन व्यवस्थाओं में संचालित योजनाएँ चूँकि जनसाधारण हेतु होती हैं, अतः उन योजनाओं एवं कार्यक्रमों का प्रसार-प्रचार भी आम जनता के मध्य प्रशासन द्वारा ही किया जाता है। आजकल रेडियो, टी0वी0 समाचार पत्रों, पोस्टर्स, होर्डिंग्स तथा प्रदर्शनियों के माध्यम से सरकार अपनी योजनाएँ जनसाधारण को सूचित करती है। आज

का युग सूचना का युग है। अतः आम जनता तक प्रशासनिक कार्यकलापों की जानकारी पहुँचना आवश्यक है।

प्रशासनिक कार्यों तथा प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में जनसाधारण को हुई असुविधा तथा राजकीय सम्पत्ति के दुरुपयोग इत्यादि के क्रम में असंख्य शिकायतें प्रतिदिन सचिवालय में प्राप्त होती हैं। इन शिकायतों का निवारण तथा दोषी कार्मिक के विरुद्ध कार्यवाही करने का कार्य सचिवालय द्वारा सम्पादित ही होता है।

8. **नियंत्रण एवं मूल्यांकन करना-** किसी भी कार्य की पूर्ण सफलता हेतु अति आवश्यक है कि उस कार्य का सतत् अनुश्रवण तथा एक निश्चित अवधि या पूर्ण समाप्ति पर मूल्यांकन(इवेल्युएशन) किया जाए। राज्य सरकार द्वारा कार्यान्वित योजनाओं तथा कार्यक्रमों का सचिवालय द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। क्षेत्रीय कार्यालयों तथा कार्मिकों द्वारा प्रेषित प्रगति प्रतिवेदन, आम जनता की परिवेदनाएँ, राज नेताओं का आकलन तथा आकस्मिक दौरों के माध्यम से योजनाओं के कार्य-संचालन एवं प्रगति पर नियंत्रण रखा जाता है। शीर्षस्थ नियंत्रणकर्ता के रूप में सचिवालय अपने अधीनस्थ कार्यालयों पर नियंत्रण स्थापित करने हेतु अनेक प्रकार के नियम-विनियम, दिशा-निर्देश तथा परिपत्र जारी करता है, क्योंकि कार्यक्रम या योजना की सफलता उस पर रखे गये नियंत्रण पर अत्यधिक निर्भर करती है। राजकीय सामग्री के भंडार का सत्यापन तथा लेखा परीक्षण; ऑडिट के द्वारा भी नियंत्रण स्थापित किया जाता है।

9. **तथ्य एकत्रण एवं प्रतिवेदन तैयार करना-** लोक प्रशासन की प्रत्येक कार्यकारी संस्था अपने वार्षिक तथ्य, सूचना तथा सम्पर्क तैयार करती है। सचिवालय के विभाग भी अपने अधीनस्थ निदेशालयों तथा अन्य सम्बद्ध प्रशासनिक अभिकरणों के माध्यम से विभागीय आंकड़ों को एकत्र करते हैं। ये आंकड़े सूचना अथवा तथ्य, नई योजनाएँ बनाने तथा प्रवर्तित योजनाओं के प्रभाव को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के वार्षिक प्रगति विवरण राजनेताओं, विधायकों, शोधार्थियों तथा प्रशासकों के लिए विभिन्न दृष्टियों से लाभकारी सिद्ध होते हैं। इन प्रगति विवरणिकाओं के अतिरिक्त प्रत्येक महत्वपूर्ण दस्तावेज तथा फाइलों को भी अभिलेखागार में सुरक्षित रखा जाता है।

12.2.5 राज्य सचिवालय की कार्य प्रणाली

राज्य सचिवालय के विभिन्न स्तरों के पदाधिकारी अपने पद की महत्ता के अनुसार कार्य सम्पन्न करते हैं। शासन सचिव सम्पूर्ण विभाग और अधीनस्थ स्टाफ पर सामान्य नियन्त्रण एवं अधीक्षण रखता है। उप-सचिव उसकी सहायता करते हैं तथा अपर सचिव द्वारा यह देखा जाता है कि किसी प्रस्तुत मामले से सम्बन्धित सभी तथ्य संलग्न किये गये हैं अथवा नहीं। अनुभाग का अधिकारी यह व्यवस्था करता है कि अनुभाग में आने वाले सभी कागज-पत्रों पर उचित कार्यवाही की जाये। अनुभाग अधिकारी की देखरेख में ही कार्यालय प्रक्रिया के अनुशीलन का प्रबन्ध किया जाता है। वह सभी अधिनियमों, उपनियमों, कार्यालय प्रक्रिया तथा फाइल बनाने आदि कार्यों से परिचित रहता है, इसलिए अपने सहायकों को आवश्यक निर्देश प्रदान कर सकता है। यह निर्णय के 'क्या' पर प्रभाव नहीं डालता वरन 'कैसे' का सुझाव देता है। निर्णय लेना उच्च अधिकारियों का कार्य है।

सचिवालय की कार्य प्रक्रिया 'सेक्रेटेरिएट मैनुअल' में उल्लिखित होती है। किसी भी राज्य सचिवालय में अपनायी गयी फाइल व्यवस्था अत्यन्त सरल होती है। उदाहरण के लिए, सचिवालय में फाइल के दो भाग किये जाते हैं- टिप्पणियां एवं पत्र व्यवहार। टिप्पणी वाले भाग में सम्बन्धित विषय पर विभाग का अभिमत अंकित होता है। पत्र व्यवहार वाले भाग में किसी विषय पर प्राप्त किये गये या भेजे गये सभी पत्र होते हैं।

सचिवालय मैनुअल में यह भी उल्लिखित है कि एक कागज को किस प्रकार व्यवस्थित किया जाये, संलग्न किये जाये, पृष्ठों पर नम्बर किस प्रकार डाला जाये, आदि। फाइल रखने का तरीका ऐसा होना चाहिए कि एक अधिकारी किसी फाइल को मंगाकर तत्सम्बन्धी सारी बातों की जानकारी कर सके।

12.2.6 राज्य सचिवालय की समस्याएँ

डॉ० श्रीराम माहेश्वरी के अनुसार राज्य सचिवालय ने उन कार्यों को भी हथिया लिया है, जो वास्तव में इसके अपने नहीं हैं, इससे विभागाध्यक्षों में उदासीनता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती जा रही है। विभागाध्यक्ष प्रायः यह शिकायत करते हैं कि सचिवालय यन्त्र ने उनके कार्यों में सुविधा पहुँचाने की अपेक्षा बांधा डाली है। उनके महत्वपूर्ण सुझावों को सचिवालय कई बार रद्दी की टोकरी में डाल देता है। सचिवालय के कर्मचारियों में इतनी अधिक वृद्धि हो रही है कि जो प्रशासनिक दृष्टि से आवश्यक नहीं है। सचिवालय के अधिकारी हमेशा अपनी सेवा की सुरक्षा, वेतन-भत्ते और पदोन्नति के मसलों में उलझे रहते हैं। कई बार आवश्यक स्वरूप के कागज सचिव से चलकर पुनः

सचिव तक पहुँचने में 15 से 20 स्तरों पर रूकते हैं। जिससे आवश्यक विलम्ब होता है और समय व श्रम की बर्बादी। सचिवालय संगठन की एक अन्य समस्या यह है कि इसे बहुत सारा अनावश्यक कार्य भी सौंप दिया जाता है। पंजाब में प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने यह ज्ञात किया कि वहाँ सचिवालय में आने वाले कार्यों में से कम से कम एक-तिहाई कार्य तो ऐसे होते हैं जो उनके सामने आने की नहीं चाहिए।

भारत के राज्यों में सचिवालय और विभागाध्यक्षों के बीच समन्वय, सहयोग तथा मधुर सम्बन्धों की स्थापना आवश्यक पहलू है। वस्तुतः सचिवालय मूल रूप से एक अभिलेख रखने वाला और समन्वय, नियन्त्रण तथा पर्यवेक्षण करने वाला कार्यालय है, जबकि विभागाध्यक्ष सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों की सफल क्रियान्विति के लिए उत्तरदायी है। अतः दोनों की भूमिका स्पष्टतः परिभाषित होनी चाहिए और उनका उच्च-अधीनस्थ का सम्बन्ध न होकर समांजस्यपूर्ण सम्बन्धों की रूपरेखा बननी चाहिए। सचिवालय की कार्य प्रणाली का भी आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए ताकि अनावश्यक विलम्ब, आद को टाला जा सके। लालफीताशाही को रोकने के लिए सभी सचिवालयों में कर्मचारियों की संख्या कम की जानी चाहिए, शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए, लाइन एवं स्टाफ में स्पष्ट अन्तर होना चाहिए तथा सभी विभागों में एक-एक पृथक् प्रभाग समन्वय कार्य के लिए स्थापित किया जाना चाहिए।

12.3 मुख्य सचिव

मुख्य सचिव राज्य प्रशासन का प्रशासनिक प्रमुख होता है। राज्य स्तर पर मुख्य सचिव केन्द्रीय स्तर के मंत्री-मण्डलीय सचिव के समकक्ष माना जा सकता है। वह राज्य सचिवालय का मुख्य समन्वयकर्ता होता है। वह राज्य के समस्त एवं सामान्य प्रशासन का अध्यक्ष होता है। वह सचिवालय का ऐसा किंगपिन है, जो सभी स्तरों पर सचिवालय के सभी विभागों को परस्पर संयुक्त करता है। वह सचिवों का मुखिया तथा राजकीय लोक सेवाओं का अध्यक्ष है। मुख्य सचिव का राजनीतिक प्रमुख मुख्यमंत्री होता है वह सचिवालय का सर्वेसर्वा होता है। सचिवालय के सभी विभागों पर उसका नियन्त्रण होता है, वह राज्य को अत्यन्त आवश्यक प्रशासकीय नेतृत्व प्रदान करता है, राज्य के सम्पर्क अधिकारी का कार्य करता है तथा अपने प्रदेश की सरकार और केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के मध्य संचार सूत्र का कार्य करता है।

12.3.1 मुख्य सचिव पद का उदय

मुख्य सचिव का पद ब्रिटिश विरासत है। सन् 1898 में लॉर्ड बेलजली, जब भारत के गवर्नर जनरल बने तो उन्होंने केन्द्रीय सचिवालय का पुनर्गठन किया और उसी समय मुख्य सचिव का पद सृजित किया गया। ऐसे प्रमाण हैं कि जार्ज हिलेरो बालो पहले मुख्य सचिव नियुक्त हुए थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की समाप्ति के बाद जब शासन सीधे ब्रिटिश संसद के अधीन आ गया तो धीरे-धीरे सभी प्रान्तों में मुख्य सचिव पद सृजित किए गये। उसे महत्वपूर्ण नियुक्तियां करने के अधिकार प्रदान किए गये, जिनमें जिला स्तर के अधिकारियों की नियुक्तियां प्रमुख थीं।

12.3.2 मुख्य सचिव का चयन

मुख्य सचिव राज्य में आई0ए0एस0 का वरिष्ठतम अधिकारी होता है। सामान्यतया उसकी नियुक्ति 'वरिष्ठता' के आधार पर होती है, किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि मुख्य सचिव के चयन में योग्यता और अन्य बातें भी निर्णायक होती हैं। व्यवहार में मुख्य सचिव का चयन राज्य का मुख्यमंत्री करता है। परम्परा यह है कि ऐसा करते समय वह संघ सरकार से सलाह करता है, किन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है। वह अपने सहयोगी मन्त्रियों से भी सलाह कर सकता है, पर अन्तिम निर्णय उसी का होता है। डॉ० मीना सोगानी के अनुसार मुख्य सचिव के चयन में जिन मुख्य तथ्यों को ध्यान में रखा जाता है वे निम्नलिखित हैं- वरीयता, सेवा अभिलेख, कार्य निष्पादन तथा योग्यता और मुख्यमन्त्री का अधिकारी में विश्वास।

हाल ही में विभिन्न राज्यों में मुख्य सचिवों के चयन से स्पष्ट होता है, कि सामान्यतया मुख्यमन्त्री अपनी पसन्द के व्यक्ति को ही मुख्य सचिव के पद पर नियुक्त करता है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मुख्य सचिव के चयन में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मुख्यमंत्री की ही होती है। डॉ० एस० आर० माहेश्वरी के अनुसार, राज्य प्रशासन को सुचारू रूप से और प्रभावी ढंग से चलाने के लिए यह आवश्यक भी है कि मुख्यमंत्री और मुख्य सचिव के आपसी सम्बन्ध परस्पर ठोस विश्वास पर आधारित हों। प्रशासनिक सुधार आयोग का मत था कि मुख्य सचिव का चयन बहुत ही सावधानी से किया जाना चाहिए। यह एक वरिष्ठतम, प्रभावी व्यक्ति होना चाहिए जिसे अपनी योग्यता, अनुभव, ईमानदारी और निष्पक्षता के कारण सभी अधिकारियों का विश्वास और आदर प्राप्त हो।

12.3.3 राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव के कार्य

राज्य का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी तथा मुख्यमंत्री के प्रमुख परामर्शदाता के रूप में पदासीन मुख्य सचिव के कार्य अत्यन्त विस्तृत तथा गम्भीर हैं। संक्षेप में मुख्य कार्य अग्रलिखित हैं-

1. राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए मुख्यमंत्री को परामर्श देना तथा स्वयं प्रशासनतंत्र को नेतृत्व प्रदान करना।
2. मंत्रिमण्डल सचिवालय के सचिव के रूप में राज्य की शासकीय नीतियों के निरूपण में सहायता करना।
3. मंत्रिमण्डल बैठकों की सूचना मंत्रिगण तक पहुँचाने, बैठक के निर्णयों को प्रशासनिक इकाइयों तक पहुँचाने तथा उनकी क्रियान्विति सुनिश्चित करने के प्रयास करना।
4. केन्द्र-राज्य सम्बन्धों, क्षेत्रीय परिषदों के कार्यों तथा अन्तर्राज्यीय सम्पर्कों के क्रम में पत्र-व्यवहार एवं समन्वय करना।
5. राज्यपाल, मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों से सम्बन्धित संस्थापना प्रकरणों पर कार्यवाही करना।
6. राज्य क्षेत्र के बाहर के प्रकरणों में चिकित्सा सहायता उपलब्ध करवाना।
7. उच्च स्तरीय; मंत्रियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों, सभा, संगोष्ठियों तथा कार्यशालाओं से सम्बन्धित मामलों पर कार्यवाही करना।
8. राज्य के विकास हेतु कार्यक्रम एवं योजनाएँ बनवाने में सहायता करना।
9. राज्य प्रशासन से सम्बन्धित विधि/नियम निर्माण में परामर्श प्रदान करना।
10. जनगणना के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार को राज्य प्रशासन द्वारा सहायता उपलब्ध करवाना।
11. संसद तथा राज्य विधान सभा में मुख्यमंत्री तथा मंत्रियों से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर हेतु तथ्य एवं सूचनाएँ उपलब्ध करवाना।
12. राज्य कर्मचारियों के वेतनमानों, पदों, पदोन्नतियों, स्थानान्तरण, पुरस्कार तथा कार्मिक विकास से सम्बन्धित सेवाशर्तों का निर्माण करवाना।
13. विभिन्न प्रशासकीय संगठनों, स्वयंसेवी संस्थाओं, उद्योग मंडलों, दबाव समूहों, प्रेस तथा कार्मिक संघों से वार्तालाप करना तथा सरकार का पक्ष स्पष्ट करना।

14. केन्द्र सरकार के मंत्रालयों, राज्य सरकार के विभागों तथा अन्य अभिकरणों के मध्य विवाद की स्थिति में समन्वय स्थापित करवाना।
15. राज्य प्रशासन के कार्यकरण में शामिल संस्थाओं तथा कार्मिकों पर नियंत्रण, पर्यवेक्षण तथा मार्गदर्शन प्रदान करना।
16. विभिन्न विभागों से प्राप्त बजटीय अनुमानों को एकीकृत करते हुए मंत्रिमण्डल के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत करवाना तथा विधायिका द्वारा स्वीकृत बजट को वास्तविक रूप से क्रियान्वित करवाना।
17. महत्वपूर्ण व्यक्तियों के राज्य के दौरे के समय व्यवस्थाएँ करवाना।
18. सांस्कृतिक आदान-प्रदान, कला एवं संस्कृति विकास, पुरस्कार एवं प्रोत्साहन, तथा करों एवं शुल्क के क्रम में आवश्यक कदम उठाना।
19. राज्य के प्रशासनतंत्र में संशोधन, सुधार, नवाचार तथा 'रूल्स ऑफ विजनस' में परिवर्तन हेतु मंत्रिमण्डल को परामर्श देना।

12.3.4 मुख्य सचिव की भूमिका

राज्य प्रशासनिक तंत्र में मुख्य सचिव की भूमिका कई आयामों से महत्वपूर्ण तथा प्रशासनिक दृष्टि से सर्वोच्च है। मुख्यमंत्री के परामर्शदाता, राज्य कार्मिकों के नेतृत्वकर्ता तथा प्रशासनतंत्र की धुरी के रूप में मुख्य सचिव की भूमिका को यहाँ निम्नांकित शीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है-

1. **मुख्यमंत्री के सहयोगी के रूप में-** किसी राज्य में नये मुख्यमंत्री तथा मंत्री-परिषद की स्थापना के साथ ही सामान्यतः मुख्य सचिव भी परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि लोक सेवक होने के नाते मुख्य सचिव राजनीतिक दृष्टि से निष्पक्ष होता है। तथापि प्रत्येक मुख्यमंत्री अपनी इच्छा का मुख्य सचिव नियुक्त करना पसंद करता है, ताकि मुख्य सचिव उसे सूचना, तथ्य तथा समुचित परामर्श उपलब्ध करा सके एवं मुख्यमंत्री के मंतव्यों को समझते हुए कार्यक्रम निर्मित एवं कार्यान्वित करवा सके।
- मंत्रिमण्डल की बैठकों की व्यवस्था, वांछित सूचना या फाईल उपलब्ध कराना, महत्वपूर्ण मुद्दों पर अपना परामर्श देना तथा मंत्रिमण्डल के निर्णयों को लागू कराने में मुख्य सचिव की भूमिका निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि राज्य का मुख्यमंत्री अधिकांशतः मुख्य सचिव पर निर्भर रहता है। राज्य

प्रशासन की नीतियों, कानूनों, कार्यक्रमों तथा नयी योजनाओं के निर्माण, मुख्यमंत्री द्वारा किये गये वायदों की क्रियान्वित इत्यादि में मुख्य सचिव बहुत कुशलता से अपना कार्य सम्पादित करता है, क्योंकि मंत्रिमंडलीय बैठकों तथा अन्य मंचों पर राजनीतिक मंत्रीगण कई प्रकार की बाध्यताओं तथा स्वार्थों से घिर कर अपना मत प्रकट करते हैं। जबकि मुख्य सचिव को अपने दीर्घ प्रशासनिक अनुभव एवं प्रवर्तित कानूनों के अनुसार निर्णय करना होता है।

मुख्यमंत्री के दौरों, बैठकों तथा लोगों से मुलाकात के क्रम में मुख्यमंत्री के सचिव के साथ मुख्य सचिव भी तालमेल बैठाता है। राज्य सरकार के विभिन्न विभागों से महत्वपूर्ण तथा नीतिगत मुद्दों से जुड़े प्रकरणों की फाइलें मुख्य सचिव के पास आती हैं, जिन्हें वह मुख्यमंत्री के पास अग्रेषित करता है तथा सम्बन्धित प्रकरण पर अपनी टिप्पणी एवं परामर्श देता है। योग्य, चतुर तथा धैर्यवान मुख्य सचिव, कुछ विवादित प्रकरणों में कानून की पतली गलियों के माध्यम से अपने मुख्यमंत्री को संकट से उबार भी सकता है। मुख्यमंत्री के पास आने वाली जन-शिकायतों की जाँच तथा सुनवाई का कार्य मुख्य सचिव के माध्यम से ही सम्बन्धित विभाग तक भेजा जाता है।

2. **मुख्य प्रशासनिक अधिकारी के रूप में-** राज्य सचिवालय के विभागों के सभी सचिवों, निदेशालयों के निदेशकों, संभागीय आयुक्तों, जिला कलेक्टरों तथा अन्य सभी राज्य कर्मचारियों का शीर्षस्थ अधिकारी मुख्य सचिव होता है। इस स्थिति में मुख्य सचिव का यह दायित्व हो जाता है कि सम्पूर्ण प्रशासनतंत्र को निर्देशित तथा समन्वित करें, ताकि किसी प्रकार की शिथिलता तथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो। राज्य प्रशासन की किसी भी इकाई द्वारा किया गया विवादित कार्य या उच्च स्तरीय प्रशासनीय कार्य अथवा दिखाई गयी लापरवाही के क्रम में अन्ततः मुख्य सचिव को जिम्मेदार बनना पड़ता है। इसलिए राज्य कार्मिकों के मनोबल को बढ़ाने हेतु उनके वेतनमानों, भत्तों तथा सुविधाओं में वृद्धि, पदोन्नति, पुरस्कार एवं प्रशिक्षण व्यवस्था में सुधार तथा सेवानियमों में समयानुकूल परिवर्तन तथा अनुशासन हीनता के मामलों में दण्ड की कार्यवाहियाँ इत्यादि में मुख्य सचिव महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3. कुछ विभागों के प्रमुख के रूप में- यद्यपि मुख्य सचिव राज्य के सम्पूर्ण प्रशासनतंत्र का प्रशासनिक प्रमुख है। तथापि कुछ विभाग ऐसे हैं, जिनका सचिव पद, मुख्य सचिव द्वारा ही धारित किया जाता है। इन विभागों में प्रशासनिक सुधार विभाग, कार्मिक विभाग, सामान्य प्रशासन विभाग तथा नियोजन विभाग प्रमुख हैं। यह स्थिति प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है, फिर भी मुख्य सचिव की भूमिका संघीय सरकार के कैबिनेट सचिव से भिन्न है, क्योंकि कैबिनेट सचिव के अधीन प्रत्यक्षतः कोई मंत्रालय नहीं होता है, जबकि राज्यों के मुख्य सचिव के अधीन कुछ विभाग होते हैं।

सामान्यतः महत्वपूर्ण प्रकृति के उन विभागों को जो राज्य प्रशासन में समन्वय स्थापित करने में अग्रणी हैं, को मुख्य सचिव के अधीन रखा जाता है। मुख्यमंत्री के साथ मिलकर राज्य की वार्षिक तथा पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण तथा श्रियोजन एवं विकास समन्वय समिति के अध्यक्ष के रूप में मुख्य सचिव महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कार्मिक विभाग में मुख्य कार्यों में अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों; राज्य संवर्ग के कार्यों का बंटवारा, पद-स्थापन, पदोन्नति, सेवानिवृत्ति, प्रशिक्षण, वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट, सेवानियम, आधार संहिता तथा उच्च स्तरीय निकायों जैसे लोकायुक्त, लोक सेवा आयोग, लोक उपक्रम इत्यादि में अधिकारियों की नियुक्ति के क्रम में मुख्यमंत्री, मुख्य सचिव से परामर्श करता है। प्रशासनिक सुधार विभाग के मुखिया के रूप में राज्य प्रशासनतंत्र से सुधार, संशोधन, प्रक्रिया परिवर्तन तथा नवाचारों को प्रोत्साहन देने का जिम्मा मुख्य सचिव का है। सामान्य विभाग के सचिव के रूप में मुख्य सचिव की भूमिका, उच्च स्तरीय प्रतिनिधि मंडलों या महत्वपूर्ण व्यक्तियों के दौरों के समय व्यवस्थाएँ करवाने, पुरस्कार निर्धारण एवं वितरण, स्वयंसेवी संगठनों को सहायता देने, राजकीय भवनों तथा अतिथि गृहों की रक्षा, राज्य मोटर गैराज का प्रबन्ध तथा स्वतंत्रता सेनानियों के मामले, इत्यादि से सम्बन्धित होती है। सामान्यतः ये विभाग किसी मंत्री के अधीन नहीं होते, बल्कि मुख्यमंत्री ही इनका प्रभारी होता है, जिसे मुख्य सचिव प्रशासनिक सहायता प्रदान करता है।

4. विभिन्न स्तरों पर समन्वयक के रूप में- वर्तमान में जटिल होती प्रशासनिक संस्थाओं तथा विशेषज्ञता के कारण फैलते प्रशासनिक क्षेत्र में विविध अभिकरणों के मध्य सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करना परमावश्यक है। राज्य प्रशासन के प्रमुख अधिकारी के रूप में मुख्य सचिव को राज्य

सरकार तथा केन्द्र सरकार एवं उनके विभिन्न मंत्रालयों या अभिकरणों से समन्वय स्थापित करना पड़ता है। विभिन्न प्रकार की पंचवर्षीय योजनाओं, विकास कार्यक्रमों, शांति एवं व्यवस्था, वित्तीय सहायता की प्राप्ति, अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों का कार्मिक प्रबन्ध तथा राज्य की विकास परियोजनाओं की मंजूरी इत्यादि के क्रम में मुख्य सचिव राज्य सरकार के विभागों और केन्द्र सरकार के कैबिनेट सचिव, मंत्रालयों एवं वित्तीय संस्थाओं के मध्य समन्वय स्थापित करता है। प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले मुख्य सचिव सम्मेलन में वह राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। कैबिनेट सचिव की अध्यक्षता में होने वाले इस वार्षिक सम्मेलन में मुख्यतः केन्द्र-राज्य समन्वय की चर्चा होती है।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम- 1956 के अनुसरण में केन्द्रीय गृहमंत्री की अध्यक्षता में बनी क्षेत्रीय परिषद में सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों, योजना आयोग के प्रतिनिधि, विकास आयुक्त तथा राज्यों के मुख्य सचिवों की अहम भूमिका होती है। दो या अधिक राज्यों के मध्य वाणिज्यिक, जलीय तथा करों से सम्बन्धित विवादों के मध्य अन्तर्विभागीय विवादों को निबटाने, विकास कार्यों में प्रत्येक विभाग का सहयोग सुनिश्चित करने, सचिवालय स्टॉफ को निर्देशित करने, विभागों की बैठकों को सम्बोधित करने, संभागीय आयुक्तों, विभागाध्यक्षों तथा जिलाधीशों की संगोष्ठियों की अध्यक्षता करने में मुख्य सचिव की एकमात्र उपयुक्त अधिकारी सिद्ध होता है, जो सहज रूप से सम्पूर्ण राज्य प्रशासन को एक सूत्र में पिरो सकता है। राज्य सरकार तथा प्रेस के मध्य, राज्य एवं दबाव समर्थ उद्योगपति/कर्मचारी संगठन तथा राज्य सरकार एवं निजी संगठनों के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण स्थापित कराने में भी मुख्य सचिव की महती भूमिका है।

5. **आपातकाल में महत्वपूर्ण भूमिका-** युद्ध तथा अशांति या वित्तीय संकट के कारण घोषित होने वाले राष्ट्रीय आपातकाल; इमर्जेन्सी तथा राज्य में संवैधानिक तंत्र की असफलता पर राष्ट्रपति शासन की घोषणा के समय राज्य सरकार का मंत्रिमण्डल चूँकि निष्क्रिय हो जाता है, अतः राज्यपाल वास्तविक सत्ता बन जाता है। इस स्थिति में मुख्य सचिव की राज्यपाल के प्रति आस्था वैसी ही हो जाती है, जैसी कि पूर्व में मुख्यमंत्री के साथ थी। राज्य के शासन-प्रशासन कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए मुख्य सचिव को राज्यपाल महोदय के परामर्शदाता एवं कार्यकारी या निष्पादक अधिकारी की

भूमिका निभानी पड़ती है। आपातकालीन परिस्थितियों में गठित की जाने वाली कमेटियों में भी मुख्य सचिव अहम भूमिका निभाता है।

मुख्य सचिव राज्य के पुलिस महानिदेशक तथा महानिरीक्षक एवं गुप्तचर अभिकरणों के अधिकारियों के माध्यम से राज्य की कानून एवं व्यवस्था की अद्यतन सूचनाएँ निरन्तर प्राप्त करता है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, राष्ट्रीय आयोगों, स्वयंसेवी संस्थाओं, कल्याणकारी न्यासों, साहसिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में संलग्न निकायों एवं आम जनता से मुख्य सचिव दैनन्दिन सम्पर्क करता है। सारांशतः राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण एवं गंभीर दायित्वों से युक्त है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राज्य पुनर्गठन अधिनियम- 1956 में पारित किया गया? सत्य/असत्य
2. राज्य सचिवालय राज्य स्तर पर विद्यमान समस्त विभागों का सामूहिक रूप होता है। सत्य/असत्य
3. मुख्य सचिव का मुख्य कार्य राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने का है। सत्य/असत्य

12.4 सारांश

राज्य सचिवालय राज्य स्तर पर विद्यमान समस्त विभागों का सामूहिक रूप होता है। इसका मुख्य कार्य सुशासन हेतु नीतियों का निर्माण करना है। इसके साथ ही नीतियों के सफल क्रियान्वयन हेतु अनुश्रवण एवं मूल्यांकन की व्यवस्था भी सचिवालय के ही जिम्मे है। प्रत्येक राज्य के सचिवालय में विभागों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। विभागों की संख्या का निर्धारण राज्य का मंत्रिमण्डल करता है। संगठनात्मक दृष्टि से राज्य सचिवालय का मुखिया मुख्यमंत्री होता है, क्योंकि वह मंत्री-परिषद का अध्यक्ष भी होता है। प्रशासनिक स्तर पर सचिवालय का मुख्य अधिकारी मुख्य सचिव होता है। राज्य स्तर पर मुख्य सचिव केन्द्रीय स्तर के कैबिनेट सचिव के समकक्ष माना जा सकता है। वह सचिवों का मुखिया तथा राजकीय लोक सेवाओं का अध्यक्ष है, इसके साथ ही सचिवालय के सभी विभागों पर उसका नियंत्रण होता है। मुख्य सचिव का चयन राज्य का मुख्यमंत्री करता है। मुख्य सचिव का मुख्य कार्य राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने का है।

12.5 शब्दावली

निदेशालय- सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए उत्तर दायी संस्था।

ए०पी०सी०- कृषि उत्पादन आयुक्त।

आई०ए०एस०- भारतीय प्रशासनिक सेवा।

रूल्स आफ विजनेस- कार्य के सम्पादन हेतु नियमावली।

12.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत में लोक प्रशासन, डॉ० बी० एल० फाड़िया, 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. इण्डियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, रमेश अरोड़ा, रजनी गोयल, 2001, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. भारतीय प्रशासन, प्रो० मधू सूदन त्रिपाठी, 2008, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, डॉ० बी० एल० फाड़िया, डॉ० कुलदीप फाड़िया, 2001, साहित्य भवन, पब्लिकेशन्स, आगरा।

12.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, अवस्थी एवं अवस्थी 2009, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. राज्य प्रशासन, डॉ० सुरेन्द्र कटारिया 1999, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।

12.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य सचिवालय के संगठन एवं उपयोगिता का उल्लेख कीजिये।
2. राज्य सचिवालय के कार्यों का वर्णन कीजिये।
3. मुख्य सचिव के कार्यों का वर्णन कीजिये।
4. राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका का परीक्षण कीजिये।

इकाई- 13 लोक सेवाएँ- अर्थ, कार्य, आधुनिक प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 लोक सेवाएँ- अर्थ एवं परिभाषा

13.3 लोक सेवाओं का उद्-भव

13.3.1 प्राचीन काल

13.3.2 मौर्य तथा गुप्त काल

13.3.3 मुगल काल

13.3.4 ब्रिटिश शासन काल

13.4 लोक सेवाओं के कार्य

13.5 लोक सेवाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

13.6 लोक सेवाओं की विशेषताएँ

13.7 सारांश

13.8 शब्दावली

13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.12 निबन्धात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

लोक प्रशासन विषय के रूप में अध्ययन हेतु लोक सेवाओं के बारे में जानना नितान्त आवश्यक है वरना विषय अधूरा रह जायेगा।

राज्य के बढ़ते हुये कार्यों के साथ कार्मिक वर्ग का योग एवं महत्व भी बढ़ता जा रहा है। पहले सरकारें प्रबन्ध नीति में विश्वास करती थीं एवं अपने कार्यों को केवल समाज में कानून व्यवस्था बनाये रखने तक ही सीमित रखती थीं, उस समय तो कर्मचारी-वर्ग में कार्य भी कुछ उद्देश्यों तक ही सीमित थे। परन्तु विज्ञान तथा शिल्पकला की प्रगति से विकासशील देशों में राज्य की क्रियाओं में असाधारण रूप में वृद्धि हुई है। वैश्वीकरण के दौर में सुशासन हेतु राज्य जन्म से मृत्यु-पर्यन्त मानवीय कल्याण में वृद्धि करता है। राज्य की क्रियाएं अत्यन्त विस्तृत तथा विविध प्रकार की हो गयी हैं। राज्य, समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण करता है। इन योजनाओं के सफलतम क्रियान्वयन एवं अनुपालन को सुनिश्चित करने हेतु राज्य लोक सेवकों के माध्यम से नागरिकों तक पहुँचाता है।

मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास मनुष्य के अदम्य साहस, संघर्ष और जीजिविशा(जीने की इच्छा) का दर्पण है, दर्पण वर्तमान काल होता है। इसके माध्यम से सही एवं ताजी आकृति दिखाई देती है। वर्तमान कल्याणकारी राज्य के प्रवर्तन में सभ्यता का विकास एवम विनाश पूर्णतः लोक सेवाओं तथा इसमें कार्यरत कार्मिकों पर निर्भर करता है। प्रो० डब्लू बी० डोन हैम ने कहा है यदि हमारी वर्तमान सभ्यता का पतन हुआ, तो ऐसा मुख्यतः प्रशासन की विफलता का कारण होगा। राज्य, प्रशासनिक अधिकारियों एवं लोक सेवकों के माध्यम से ही अपने बढ़े हुए उत्तर दायित्वों का निर्वाह करता है। देश का संविधान, नीति निमार्ता, मंत्रीगण कितने भी अच्छे क्यों न हो, परन्तु बिना दक्ष सेवी-वर्ग के उस देश का शासन सफल नहीं हो सकता है। राज्य की नीतियां कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसके अच्छे परिणाम तभी निकल सकते हैं, जब उन्हें कुशलतापूर्वक एवं सत्यनिष्ठा के साथ क्रियान्वित किया जाये।

लोक सेवा के महत्व का प्रतिपादन प्रो० ऑग ने कुछ इस प्रकार कहा है सरकार का कार्य केवल राज्य सचिव तथा विभागों के अन्य प्रधानों, मण्डलों के सभापति, संसदीय अवर सचिवों, कनिष्ठ अधिपति तथा विशिष्ट अधिपति। दूसरे शब्दों में मन्त्रीगण द्वारा पूर्ण नहीं किया जा सकता है। इन लोगों से यह आशा नहीं की जाती है कि वे कर एकत्र करें एवं लेखा परीक्षण, कारखानों का निरीक्षण, जनगणना आदि कार्य करें, हिसाब रखने, डाक के वितरण और समाचार ले जाने की तो बात ही दूर है। ऐसे बहुमुखी कार्य तो उन अधिकारियों द्वारा किये जाते हैं, जिन्हें स्थायी लोक सेवक कहा जाता है। स्त्री-पुरुषों का यह विशाल समूह ही राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर तक विधि

का पालन करता है और इन्हीं के द्वारा जनसाधारण नित्यप्रति राष्ट्रीय सरकार के निकट सम्पर्क में आता है। जनता की दृष्टि में इस निकाय का महत्व भले ही कम हो, किन्तु मन्त्रालयों के लिए काम करने वालों की यह सेना सरकार के उन उद्देश्यों को, जिनके लिए सरकार विद्यमान है, पूर्ण करने के लिए आवश्यक नहीं है। हरमन फाइनर के शब्दों में, लोक प्रशासन में सेवी-वर्ग को ही सर्वोच्च तत्व माना जाता है। पिफनर के अनुसार सेवी-वर्ग को प्रशासन की आधारशिला कहा जाता है।

उपरोक्त विचारकों के मत से सेवी-वर्ग के कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि सुगठित तथा सुविचारित सेवी-वर्ग प्रशासन ही किसी प्रशासनिक संगठन की सफलता का मुख्य आधार है। फेलिम्स निग्रो का मानना है कि कार्मिकों की कुशलता तथा योग्यता ही संगठन की सफलता को निर्धारित करती है। योग्य तथा प्रतिबद्ध कर्मचारी कमजोर प्रशासनिक व्यवस्था की कमियों को दूर कर उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल रहते हैं, जबकि अयोग्य तथा निकृष्ट कर्मचारी सर्वोत्कृष्ट प्रशासनिक व्यवस्था को भी असफल सिद्ध कर देते हैं।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक सेवाएँ किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- लोक प्रशासन के सन्दर्भ में लोक सेवा के अर्थ से भली-भाँति परिचित हो पायेंगे।
- लोक सेवा के उद्-भव एवं विकास के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- लोक सेवाओं के कार्यों से भी भली-भाँति परिचित हो पायेंगे। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक लोक सेवाओं के प्रकृति एवं कार्य क्षेत्र में परिवर्तित प्रारूप से भी ज्ञानार्जित होंगे।
- अंत में लोक सेवाओं की विशेषताओं को भी जान पायेंगे।

13.2 लोक सेवाएँ- अर्थ एवं परिभाषा

लोक सेवा शब्द का प्रचलित अर्थ राज्य की प्रशासनिक सेवा को असैनिक शाखाएँ हैं। ये वे कार्मिक वर्ग हैं, जो शासन की नीतियों, कार्यक्रमों तथा विधियों में क्रियान्वयन में संलग्न हैं, ताकि राज्य की रक्षा, जनकल्याण तथा विकास के लक्ष्य प्राप्त हो सके।

सैनिक सेवा देश के सैनिक प्रशासन से सम्बन्धित होती है तथा असैनिक सेवा असैनिक प्रशासन से। फाइनर के शब्दों में लोक सेवा अधिकारियों का एक व्यावसायिक निकाय है जो स्थाई है, वैतनिक है तथा कार्यकुशल है।

ई0एन0 ग्लैडन ने लोक सेवा की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है, प्रशासन के क्षेत्र में तटस्थ विशेषज्ञों का व्यावसायिक निकाय, जो निःस्वार्थ रूप से बिना राजनीतिक दलीय विचारों अथवा वर्ग हितों से प्रभावित हुए राष्ट्र की सेवा में प्राणप्रण से जुटा है। ब्रिटेन में 'लोक सेवा' शब्द का तात्पर्य उन कर्मचारियों से है जो राजनीतिक या न्यायिक पदाधिकारियों के अतिरिक्त ताज; महारानी के वे सेवक जो असैनिक रूप से सेवायोजित हों और जिनका पारिश्रमिक पूर्णतः तथा प्रत्यक्षतः उस धनराशि में दिया जाता है, जो संसद द्वारा इस हेतु स्वीकृत की गयी हो। एल0 डी0 व्हाइट के अनुसार लोक सेवाएँ प्रशासनिक संगठन का ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है। न्यू वेबस्टर विश्व कोश के अनुसार लोक सेवाओं से आशय निम्नलिखित सेवाओं से है-

1. रक्षा तथा न्यायिक कार्यों के अतिरिक्त वे सभी कार्मिक जो सरकारी प्रशासन में नियुक्त हैं।
2. ऐसी सरकारी सेवा जिसमें कार्मिक का कार्यकाल सुरक्षित है तथा प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से प्रवेश पाता है।
3. सरकारी विनियमों के अधीन गठित सेवा लोक सेवा है।

अमेरिकन विश्व कोश में लोक सेवा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि लोक सेवाएँ उन संगठित वेतनभोगी कार्मिकों के निकाय को कहते हैं, जो सरकार के अधिकार-क्षेत्र में कार्यरत हैं। ये सेवाएँ तथा इनका नामकरण विभिन्न देशों की परम्पराओं के अनुसार होता है। यद्यपि आधुनिक राज्य में अधिकांश सेवाएँ लोक सेवाएँ ही हैं, तथापि चुने हुए जनप्रतिनिधि तथा रक्षा कार्मिक 'लोक सेवा' से बाहर माने जाते रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में होता है, वहाँ संघीय सरकार में जो सरकारी कर्मचारी प्रतियोगिता परीक्षाओं के द्वारा योग्यता के आधार पर नियुक्त किये जाते हैं, उन्हें 'सिविल सर्विस प्रतियोगिता सेवा' अथवा

‘वर्गीकृत सेवा’ का नाम दिया जाता है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों तथा नगरों की सेवा के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर जो व्यक्ति चुने जाते हैं, उन्हें भी सिविल सर्विस में सम्मिलित किया जाता है।

भारत में 1947 तक प्रतियोगिता के आधार पर चुने गये व्यक्ति ‘इण्डियन सिविल सर्विस’ के अंग होते थे। ये सैनिक सेवा के व्यक्तियों से पृथक होते थे, किन्तु इंग्लैण्ड की भाँति उस समय तक यहाँ न्यायाधीशों एवं सरकारी, प्रशासकों के पृथक वर्ग नहीं थे। स्वतन्त्रता के बाद इन दोनों को पृथक कर दिया गया है तथा इसे ‘भारतीय प्रशासनिक सेवा’ का नया नाम दे दिया गया है।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा- 21 में लोक सेवक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, सरकारी सेवारत या वेतन पाने वाला अथवा सरकारी कार्य के लिए शुल्क या कमीशन पाने वाला व्यक्ति ‘लोक सेवक’ की श्रेणी में आता है।

उपरोक्त कथनों के अनुसार लोक सेवकों की कोई निश्चित परिभाषा अभी तक नहीं विकसित हो पायी है। विभिन्न देशों की कार्मिक सेवाएँ तथा पदों का वर्गीकरण स्थानीय संस्कारों एवं पर्यावरण से प्रभावित होती है। सारांशतः लोक सेवा से तात्पर्य उन सरकारी सेवाओं से है, जिसके पदाधिकारियों को वेतन सरकारी खजाने से प्राप्त होता है एवं जिन पर सरकार अपना नियंत्रण रखती है।

13.3 लोक सेवा का उद्-भव

भारत में ‘लोक सेवा’ शब्द का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ हुआ है। कम्पनी में कार्यरत व्यापारिक तथा प्रशासनिक कार्मिकों के कार्यों के सम्बोधन हेतु यह शब्द प्रचलन में आया। जबकि लोक सेवाओं का जन्म ईस्वी सन् 06 में चीन में हुआ। वर्तमान में लोक सेवा अनवरत विकास क्रम का परिणाम है। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही शासक तथा शासित की प्रवृत्तियाँ विकसित होने लगी थीं। राज्य की शासकीय सत्ता का संचालन नियुक्त कर्मचारी द्वारा ही निष्पादित किया जाता था। इन्हीं को कालान्तर में लोक सेवक कहा जाने लगा एवं इनके द्वारा सम्पन्न कार्यों को लोक सेवाओं की संज्ञा दी गयी। आदि काल से वर्तमान तक की लोक सेवाओं की यात्रा का विभिन्न चरणों में निम्नलिखित रूप स्पष्ट किया जा सकता है-

13.3.1 प्राचीन काल

अनुमानतः पृथ्वी की उत्पत्ति साढ़े चार अरब वर्ष पूर्व हुई, परन्तु मानव की उत्पत्ति प्रागैतिहासिक काल में आज से तीस लाख वर्ष पूर्व हुई। वर्तमान मानव तीस-चालीस हजार वर्ष पूर्व में विकसित हुए। ज्ञानी, मानव की संतान है। ऐसा माना जाता है कि ईसा से चार से पांच हजार वर्ष पूर्व सभ्य मानव, समाज, परिवार, कबीले तथा शासन करने जैसी अवधारणाओं से परिचित हो चुका था। सिन्धु घाटी सभ्यता लगभग साढ़े तीन हजार से पन्द्रह सौ वर्ष ईसा पूर्व में अस्तित्व में आ गयी थी। मोहन जोदड़ों, हड़प्पा एवं सिन्धु घाटी सभ्यता; 2300 से 1750 ईसा पूर्व में मिले अवशेषों के अभिलेख से स्पष्ट होता है कि मानव सभ्यता के विकास के आरम्भिक चरणों में सुसंगठित शासन एवं प्रशासन था। सिन्धु घाटी सभ्यता को नगरीय संस्कृति का प्रतिरूप माना जाता है जिसमें नगरीय प्रशासन से सम्बन्धित सारे क्रिया-कलापों का समावेश है। निःसंदेह प्रशासन के उत्तर दायित्वों की पूर्ति कुशल तथा प्रतिबद्ध लोक सेवकों; कार्मिकों द्वारा ही होती थी।

वैदिक काल में भारतीय प्रशासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था। राजा को उसके शासन कार्यों में सहयोग एवं सहायता प्रदान करने हेतु एक सभा होती थी। सभा के पदसोपन सिद्धान्त के अन्तर्गत पुरोहित का पद सर्वोच्च एवं प्रमुख होता था। ग्रामीण हितों की रक्षा हेतु ग्रामीण का पद होता था जो ग्राम वासियों के हित एवं सुख-सुविधा के लिए राजा को समयानुसार यथावश्यक परामर्श भी करता था। अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यकतानुसार राजा के द्वारा सभा के सदस्यों के परामर्श पर की जाती थी। उत्तर वैदिक काल में राजा की सहायता हेतु मुख्यामात्य की नियुक्ति होने लगी थी। महाकाव्य काल में राजतन्त्र तथा गणतन्त्र दोनों प्रकार के राज्य थे। केन्द्रीय प्रशासन लगभग अठारह से इक्कीस विभागों के द्वारा संचालित होता था। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देने के लिए गाँवों के समूह बना दिए जाते थे, जो वर्तमान में तहसीलों एवं जनपदों की तरह कार्य करते हैं। ग्राम, सबसे छोटी इकाई कहलाती थी। दस ग्रामों का 'ग्रामिक', बीस ग्रामों का 'विशंतये' एवं सौ ग्रामों का अधिकारी 'अधिपति' कहलाता था। प्रशासनिक कार्यों के स्वस्थ संचालन हेतु ये अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखते थे। कार्मिक प्रशासन का प्रमुख आधार योग्यता थी।

13.3.2 मौर्य तथा गुप्त काल

कौटिल्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' प्रशासन के सन्दर्भ में एक प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है। मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री आचार्य चाणक्य; कौटिल्य थे। ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में लोक प्रशासन के बारे में विस्तृत वर्णन किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राचीन भारत में लोक सेवाओं के महत्व तथा कार्मिक प्रशासन की समसामायिक संरचना का आभास होता है। मेगस्थनीज ने भी 'इण्डिका' नामक पुस्तक में उस समय के प्रशासन के बारे में लिखा है कि सारे प्रशासनिक कार्य छः विभिन्न समितियों द्वारा निष्पादित किये जाते थे। प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य होते थे। प्रथम समिति हस्तशिल्प कार्य के प्रति उत्तर दायी थी। द्वितीय समिति राज्य में अतिथियों के स्वागत हेतु निर्मित थी, अर्थात् जब कोई अतिथि राज्य में आता था तो इस समिति के कर्मचारी उनका स्वागत करते थे। जन्म एवं मृत्यु प्रमाण-पत्र प्रदत्त करने का कार्य एवं दायित्व तृतीय समिति का था। वाणिज्य एवं व्यापार सम्बन्धित कार्यों के लिए चतुर्थ समिति ही जिम्मेदार थी। इनका काम राज्य में सही माप-तौल भी सुनिश्चित करना था। वस्तुओं के उत्पादन एवं गुणवत्ता बनाये रखने का दायित्व पंचम समिति करती थी। कर निर्धारण एवं वसूल करने का कार्य छठी समिति के पास था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सफल संचालन हेतु सप्तांग सिद्धान्त को अनुसरण करना चाहिए। सप्तांग के अन्तर्गत स्वामी; राजा, अमात्य; मंत्री, जनपद; राज्य क्षेत्र, दुर्ग; किला, कोष; वित्त, दण्ड; सेना एवं मित्र; सहयोगी सम्मिलित हैं। मौर्य काल में प्रशासन तंत्र के संचालन हेतु सत्रह वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्त की जाती थी। ये सत्रह अधिकारी-गण विभिन्न विभागों के कार्यों के सुनिश्चित अनुपालन हेतु राजा को सहायता प्रदान करते थे। परामर्शदाता, धर्माधिकारी, सेना प्रमुख, राजा का पुत्र, महलों का रक्षक, राजा का सुरक्षाधिकारी, दण्डनायक, राजस्व एकत्रकर्ता एवं बजट निर्माता, आयुक्त, नगर रक्षक, नगर प्रमुख, खानों का प्रमुख अथवा लोक उपक्रम प्रभारी, समन्वयकर्ता, रक्षा विभाग, किले का रक्षक, सीमाओं का अधिकारी एवं वन अधिकारी क्रमशः होते थे। लोक सेवकों का वर्गीकरण का उल्लेख भी मौर्य काल में मिलता है। इन लोक सेवकों को क्रमानुसार तीन वर्गों में विभक्त किया गया था- उपयुक्त, युक्त एवं तत्पुरुष।

13.3.3 मुगल काल

मुगल साम्राज्य की नींव सन् 1526 में बाबर ने रखी थी। मुगलों की शासन-प्रणाली फारसी एवं अरबी शासन व्यवस्थाओं का मिश्रण थी। मुगल शहंशाह को राजकार्यों में सहायता प्रदान करने हेतु अनेक वरिष्ठ अधिकारी

नियुक्त किये जाते थे। मुगल शासन ने प्रशासन के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण राज्य को विभिन्न चरणों में विभक्त कर दिया था। सर्वोच्च स्तर केन्द्रीय प्रशासन का था, इसके अन्तर्गत शहंशाह होते थे। इनकी प्रशासनिक सेवाएँ विभिन्न कार्मिकों द्वारा प्रदत्त की जाती थी। वजीर को प्रधानमन्त्री के समान उच्च स्थल प्राप्त था। फिर दीदान का पद सृजित था जिसको उपमन्त्री का अधिकार प्राप्त था। मुशारिफ़; मुख्य लेखा अधिकारी, उलेमा; धार्मिक कार्यों के लिए इत्यादि पद हुआ करते थे।

प्रान्तीय स्तर पर जिसको सूबा कहते थे, उस पर नियंत्रण करने वाले को सूबेदार या नाजिम कहते थे। सूबेदार की सहायता हेतु प्रान्तीय दीवान एवं बख्शी भी हुआ करते थे। सूबे को सरकार अर्थात् जिलों में बांटा हुआ था। सरकार का अधिकारी फौजदार के नाम से प्रचलित था। फौजदार के अन्तर्गत अमीर; राजस्व अधिकारी, वित्तिकची; राजस्व कागजात तथा खजानदार लोग कार्य करते थे। प्रशासनिक दृष्टिकोण से सरकार परगना में विभक्त था। परगना का सर्वोच्च अधिकारी परगनाधिकारी कहलाता था। परगनाधिकारी को अन्य नामों से भी पुकारा जाता था। जैसे शिकदोर या शिगदार, परगना के अधीन गाँव होते थे। गाँव को 'भावडाह', 'डिह' या 'नगलाह' भी कहा जाता था। गाँवों की देखभाल हेतु मुकदम, लगान वसूली हेतु पटवारी तथा झगड़ों को निपटाने हेतु चौधरी होते थे। पटवारी शब्द आज भी लोक सेवक के रूप में विख्यात एवं प्रचलन में हैं। अकबर के शासन-काल में मनसबदारी प्रथा शुरू हुई। मनसब के मायने रखना या निश्चित करने से है। मनसबदारी शाही सेवा में कार्यरत अधिकारियों की पद, प्रतिष्ठा, सत्ता एवं अधिकार को दर्शाने वाली प्रथा थी। 'आर्मी ऑफ द इण्डियन मुगल्स' पुस्तक के अनुसार मनसबदारी प्रथा को तीन श्रेणियों में बांटा गया था। श्रेणी के अनुसार मनसबदारियों का वेतन भी निर्धारित था। वेतन का विभाग 'दीवना-ए-तन' कहलाता था। 'तनख्वाह' शब्द भी मुगलशासन की देन है। आज के सन्दर्भ में लोक सेवकों को वेतन-मान दिया जाता है। यह शब्द 'तनख्वाह' शब्द का पर्यायवाची है। अकबर के नौ रत्नों में एक रत्न अबुल फजल भी थे। इनके द्वारा रचित 'आइने-अकबरी' में लोक सेवकों का कार्य एवं अधिकार वर्णित है। कोतवाल नाम से नियुक्त अधिकारी का वर्णन आइने-अकबरी में किया गया है।

13.3.4 ब्रिटिश शासन काल

आधुनिक लोक सेवाओं के इतिहास को ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ ही लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई। कम्पनी द्वारा नियुक्त होने वाला लोक सेवक को 'राइटर' कहते थे। इसका कार्य लिपीकीय गतिविधियाँ एवं

रिकार्ड सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन से सम्बद्ध रहता था। कम्पनी में दो प्रकार की प्रसंविद एवं अप्रसंविद लोक सेवाएं हुआ करती थीं। प्रसंविद सेवा का अर्थ है, कि इस प्रकार की सेवाओं में सेवाकर्मी संविदा के रूप में रखे जाते थे। इनमें प्रायः उच्च पद जैसे- लेखाधिकारी, सुरक्षा अधिकारी आदि सम्मिलित थे। ये पद सिर्फ 'अंग्रेजों' द्वारा ही सुशोभित होते थे। अन्य लोगों अर्थात् भारतीयों पर निष्ठा एवं विश्वास पर प्रश्न चिन्ह लगा था। अप्रसंविद सेवा में भारतीय, अंग्रेज, पेरिस के लोग एवं पुर्तगाली भी सम्मिलित थे। प्रारम्भिक दिनों में ये दोनों उपरोक्त प्रकार के लोक सेवक कम्पनी के व्यापारिक कार्यों में हाथ बंटाते रहे। सन् 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम ने ईस्ट-इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा का दीवान बना दिया, क्योंकि इससे पहले भारतीय प्लासी एवं बक्सर की लड़ाई हार चुके थे। परिणाम स्वरूप उपरोक्त राज्यों से राजस्व एकत्र तथा दीवानी न्याय प्रशासन का दायित्व कम्पनी को मिल गया। यही वह समय था जब कम्पनी व्यापारिक संस्था से शासक बन गयी। सन् 1765 से कम्पनी के अभिलेख में 'सिविल सर्वेन्ट' शब्द प्रयुक्त होने लगा था। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स भारत में प्रथम रेगुलेटिंग एक्ट- 1773 के द्वारा पारित नियमों के क्रियान्वयन एवं अनुपालन सुनिश्चित करने हेतु आये। इसी समय से कम्पनी के लोक सेवाओं का रूप नौकरशाहीनुमा होने लगा था। इनका कार्य-क्षेत्र भी बढ़ गया था। जैसे- राजस्व एकत्र करना, शांति तथा सुरक्षा की स्थापना आदि था। 'राल्फ शेल्डन' सन् 1772 में प्रथम जिला कलक्टर के पद पर आसीन हुए थे। यद्यपि यह पद अगले ही वर्ष समाप्त भी कर दिया गया। 1786 में जिला राजस्व इकाई का जन्म हुआ तथा सन् 1787 में राजस्व एवं दण्ड नायक कार्य संयुक्त करके जिला कलक्टर नियुक्त होने लगे। भारत में लोक सेवाओं में जनक लार्ड कार्नवालिस माने जाते हैं। इन्होंने लोक सेवाओं की संहिता भी तैयार की। इसके अन्तर्गत लोक सेवकों को प्रयाप्त वेतनमान एवं उत्तर दायी भी बनाया गया। लार्ड वेलेजली के शासन काल में ही फोर्ट विलियम कालेज, नाम की एक संस्था कलकत्ता में, लोक सेवकों के प्रशिक्षण हेतु स्थापना हुई थी। इसमें तीन वर्ष का प्रशिक्षण कम्पनी के अधिकारियों को देने की परम्परा थी। इस प्रशिक्षण संस्थान में अधिकारियों को भारतीय भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। सन् 1813 में लार्ड ग्रेनविले ने योग्यता आधारित भर्ती का प्रस्ताव भी रखा।

आधुनिक योग्यता प्रणाली सन् 1853 में आरम्भ हुई। सन् 1855 में सिविल सर्विस कमीशन के माध्यम से जो कि लन्दन में स्थित था, प्रवेश परीक्षा आयोजित करने लगी। प्रवेश परीक्षा में आयु सीमा 19 से 22 वर्ष की रखी गयी।

इसका सारा श्रेय लार्ड मैकाले को जाता। सन् 1864 में पहली बार भारतीय मूल के निवासी सत्येन्द्र नाथ टैगोर ने सिविल सेवा परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सन् 1855 से 1921 तक आई0सी0एस0 परीक्षा लन्दन में होती थी। सन् 1922 में लन्दन एवं इलाहाबाद में परीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई। लार्ड कैनिंग ने सन् 1859 में विभागीय व्यवस्था शुरू की। इसके अन्तर्गत प्रशासन के कार्यों को विभिन्न शाखाओं के बांटने की शुरूआत हुई। 'एचीसन आयोग' ने पूर्व में प्रचलित दोनों प्रकार की लोक सेवाओं की व्यवस्था को समाप्त कर अन्य तीन प्रकार की लोक सेवाएं प्रारम्भ की। ये सेवाएं- इम्पीरियल सिविल सर्विस, प्रोविन्सियल सिविल सर्विस एवं सब-आर्डिनेट सिविल सर्विस नाम से जानी जाती थीं। इम्पीरियल सिविल सर्विस के अन्तर्गत भर्ती की प्रक्रिया लन्दन में होती थी। बाकी दोनों सेवाओं की भर्ती भारत में होनी शुरू हो गयी थी। प्रान्तों में सांविधिक लोक सेवा को समाप्त करके नई प्रोविन्सियल सिविल सर्विस के अधिकारियों को इम्पीरियल सिविल सर्विस में पदोन्नति दी जाने लगी।

भारतीयों द्वारा इंग्लैण्ड तथा भारत में एक साथ सिविल सर्विस आयोजित करने की माँग पर सन् 1912 में इस्लिगंटन आयोग हुआ। आयोग ने भारतीयों के लिए 25 प्रतिशत पद इम्पीरियल सिविल सर्विस में सुरक्षित करने की सिफारिश की। 1919 में गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट के तहत दोहरे शासन की शुरूआत हुई। जो सेवाएं प्रत्यक्षतः सुप्रीम गवर्नमेण्ट के अधीन थीं, उनको केन्द्रीय सेवाएं माना गया। जैसे- रेलवे, कस्टम आदि। अन्य इम्पीरियल सेवाओं को अखिल भारतीय सेवाओं का नाम दिया गया, जिसके अन्तर्गत इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डिया पुलिस, इण्डिया सर्विस आफ इन्जीनियर्स तथा इण्डिया एजुकेशन सर्विस सम्मिलित की गयी। प्रान्तीय सेवाओं को प्रांत के नाम से जाना जाने लगा। सन् 1923 में 'ली आफ फर्नहाम' की अध्यक्षता में बने आयोग की अनुशंसा पर भारत में केन्द्रीय लोक सेवा आयोग की स्थापना 1926 में की गयी। इस आयोग के गठन का उद्देश्य लोक सेवाओं में सुधार का था।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के माध्यम से शासन तथा प्रशासन को उत्तर दायित्वपूर्ण बनाया गया। 15 अगस्त 1947 को भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित हुआ। फलस्वरूप ब्रिटिश काल में बना इम्पीरियल सेक्रेटेरिएट सन् 1950 में केन्द्रीय सचिवालय कहलाने लगा।

स्वतंत्रता के पश्चात 26 जनवरी, 1950 से संघीय लोक सेवा आयोग का नाम बदल कर संघ लोक सेवा आयोग पड़ा तथा इण्डियन सिविल सर्विस; आई0सी0एस0 को इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस नाम दिया गया। ब्रिटिश

कालीन लोक सेवाओं का विकास दो शताब्दियों के संक्रमणकाल से गुजरा था। ब्रिटिश शासन में सिविल सेवाओं में महिलाओं का स्थान नहीं था। दिनांक 18 जुलाई 1948 से भारत में महिलाओं को सिविल सर्विस के अनुमति दी गयी तथा 1949 में कर्नाटक की चोनिरा वेलिप्पा मुथम्मा भारतीय विदेश सेवा की प्रथम महिला अधिकारी बनी। सन् 1950 में एना राजम जार्ज, प्रथम महिला आई0ए0एस0 अधिकारी बनी तथा सन् 1972 में किरण बेदी प्रथम महिला आई0 पी0एस0 अधिकारी बनी।

13.4 लोक सेवा के कार्य

वर्तमान में विश्व की किसी भी शासन व्यवस्था में लोक सेवाओं के बगैर शासन की नीतियों एवं कार्यक्रमों के संचालन की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। आधुनिक समय में लोक सेवा को अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं। मुख्य रूप से इनके कार्यों का विभाजन तीन प्रकार से किया जा सकता है- प्रशासनिक, विधायी एवं न्यायिक। अरस्तू के अनुसार राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और अच्छे जीवन के लिए उसका अस्तित्व बना हुआ है। स्पष्ट है कि वर्तमान शासन व्यवस्थाओं में राज्य के कंधों पर जन-कल्याण तथा सुरक्षा के दायित्व हैं, जिनके क्रियान्वयन का माध्यम लोक सेवाएँ ही हैं। लोक सेवाओं में विपुल, योग्य तथा निपुण कार्मिकों की सहायता से ही शासन की नीतियों, योजनाओं तथा कार्यक्रमों की व्यावहारिक स्तर पर क्रियान्वित सम्भव हो पाती है। लोक सेवा के समस्त कार्यों का वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है, परन्तु इनके द्वारा निष्पादित मुख्य कार्यों का विवेचन निम्नलिखित है-

1. **नीति निर्माण-** नीति निर्माण करना मंत्रियों व संसद का कार्य है। क्योंकि वे जन प्रतिनिधि होते हैं और जनता द्वारा सीधे चुनाव से जीत कर आते हैं जो कि लोकतंत्र का परिचायक भी है। किन्तु व्यावहारिक रूप से नीति-निर्माण में परोक्ष रूप से लोक सेवकों का बहुत बड़ा हाथ होता है। अपने कुशाग्र बुद्धि एवं निपुण होने से ये लोक सेवक, नीति निर्माण में काफी सहायक होते हैं।
2. **नीति क्रियान्वयन-** नीति निर्धारण के पश्चात उनका क्रियान्वयन अत्यन्त आवश्यक है। इसका सम्पूर्ण दायित्व लोक सेवकों पर ही होता है। कार्यक्रम तभी सफल होते हैं, जब उनको सही रूप से क्रियान्वित किया जाये वरना अच्छी से अच्छी नीतियाँ कागज के पन्नों में सिर्फ शब्द बन कर रह जाती हैं।

3. **परामर्शकर्ता-** लोक सेवा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राजनीतिक कार्यपालिका के सदस्यों अर्थात् मंत्रीगण को सलाह देना भी है। यद्यपि शासन मंत्रियों द्वारा ही संचालित होता है। परन्तु उनके सफल संचालन का उत्तर दायित्व लोक सेवकों पर ही होता है। मन्त्रियों को शासन प्रणाली तंत्र का बहुत ज्ञान नहीं होता है। प्रशासन के सफल संचालन में अपने विश्वसनीय अधिकारियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। रैमजेम्योर कहते हैं कि सौ में से नित्यानवे मामलों में मन्त्रीगण लोक सेवकों की राय मान लेते हैं और नियत स्थान पर हस्ताक्षर भी कर देते हैं। जोसेफ चैम्बर लेन, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने यहाँ तक कहा है कि मुझे सन्देह है कि आप लोग; लोक सेवक हमारे बिना काम चला सकते हैं, परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि हम लोग; मन्त्रीगण आपके बिना काम नहीं चला सकते।
4. **प्रत्यायोजित विधि निर्माण-** वर्तमान में लोक सेवकों को प्रत्यायोजित विधि निर्माण का कार्य भी करना पड़ता है। अधिक कार्य एवं समयाभाव के कारण संसद अनेक जटिल विषयों पर विधि का मूर्तरूप प्रदत्त कर पाती है, जब कि वास्तविक रूप से लोक सेवक ही सूक्ष्म एवं व्यापक रूपरेखा प्रदान करते हैं।
5. **अर्ध-न्यायिक कार्य-** लोक सेवकों को अर्ध-न्यायिक प्रकृति के कार्य भी करने पड़ते हैं। प्रशासनिक कानून तथा प्रशासनिक अधिनिर्णय के फलस्वरूप प्रशासक न केवल प्रशासन करते हैं, अपितु न्याय भी करते हैं। राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ प्रशासनिक अधिनिर्णय की मात्रा भी बढ़ती जा रही है।
6. **विकास एवं परिवर्तन में सहायक-** कृषि एवं आर्थिक व्यवस्था को सृदृढ़ बनाने वाले समस्त उद्योगों का विकास, मशीनीकरण, संसाधनों का समुचित दोहन, आयात-निर्यात में संतुलन, उत्पादन तथा आय में वृद्धि एवं जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक कारकों को प्रगतिशील बनाये रखने हेतु लोक सेवाओं की भूमिका अहम और सर्वविदित है। आर्थिक एवं सामाजिक विकास प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं। जे0जे0 स्पेंगलर के मतानुसार सामान्यतः विकास तब माना जाता है, जब वांछनीय तथा प्राथमिक माने जाने वाली वस्तुओं का सूचकांक बढ़ जाए।
7. **राष्ट्रीय एकता में सहायक-** भारत सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विविधताओं से ओत-प्रोत है। जिसमें भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता की सामाजिक समस्याएँ भी

विद्यमान है। इन समस्याओं को सुलझाने में लोक सेवकों का बहुत बड़ा योगदान रहता है। लोक सेवकों का कार्यक्षेत्र राष्ट्रीय स्तर के होते हैं एवं तटस्थता तथा समानता के आधार पर कार्य करते हैं जो कि समस्याओं के समाधान में बहुत कारगर होती है।

8. **लोक सेवक के रूप में-** विकासशील एवम लोकतांत्रिक देश में लोक सेवक शब्द अप्रत्यक्ष सेवा करने का नाम है। यहाँ उनसे अपेक्षा की जाती है कि लोक सेवाएँ अपनी भूमिका निभाने के लिए जन-साधारण के साथ तादात्म्य स्थापित करें।

सारांशतः कहा जा सकता है कि आधुनिक कल्याणकारी शासन व्यवस्थाओं में लोक सेवाएँ एक महत्वपूर्ण निकाय हैं, जो सम्पूर्ण विकास तंत्र का मुख्य आधार भी है।

13.5 लोक सेवाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

लोक सेवाओं की प्रवृत्तियाँ समयानुकूल होती हैं। कहने का तात्पर्य है कि राजनीतिक परिवर्तनों, वैज्ञानिक एवं तकनीकी अविष्कारों, मानव मूल्य के नये आयामों एवं परिवर्तित समस्याओं की चुनौती द्वारा इसके लक्ष्य, संगठन, प्रक्रिया, औचित्य इत्यादि को उन्हीं के अनुरूप परिवर्तित किया जाता है। उपरोक्त परिवर्तित परिवेश से उत्पन्न हुई नई समस्याओं को हल करने के लिए लोक सेवाओं की प्रवृत्तियों के बदलाव आज भी परमावश्यक है। वर्तमान में लोक सेवाओं की प्रवृत्तियाँ निम्नवत् हैं-

1. **संख्यात्मक विकास-** लोक सेवा की संख्या में निरन्तर तेजी से वृद्धि हो रही है। पार्किन्स के नियमानुसार सन् 1955 में लोक कर्मचारियों की संख्या में अनवरत वृद्धि से भलीभाँति परिचित हैं। विकसित राष्ट्र, जैसे- संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संघीय कर्मचारियों की संख्या सन् 1817 में छः हजार पांच सौ के लगभग थी, वहीं 1957 में इनकी वृद्धि तेईस लाख हो गयी थी। पार्किन्स नियम के अनुसार प्रतिवर्ष 5.75 प्रतिशत औसत की दर से नौकरशाही वृद्धि करती है। इसे 'राइजिंग पिरामिड आफ ब्यूरोक्रेसी' के नाम से भी जाना जाता है।
2. **वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञ-** लोक सेवा में सरकारी कार्यों की प्रकृति के परिवर्तन के साथ-साथ वैज्ञानिकों एवं तकनीकी विशेषज्ञों की नियुक्ति होने लगी है। सरकार अब अधिकाधिक वैज्ञानिकों, डाक्टरों, अभियन्ताओं, अर्थशास्त्रियों, कृषिशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों को भी नियुक्त करती है।

3. **लोक सेवक की बढ़ती शक्तियाँ-** लोक प्रशासन के उद्-भव काल से लेकर अब तक कई पड़ाव आये, साथ ही साथ इसकी व्याख्या भी बदलती गयी जो पहले संकुचित विचारधारा तक ही सीमित थी। अब वो काफी व्यापक हो गयी है और उसे नवीन लोक प्रबंधन की संज्ञा से परिभाषित किया जाता है। परिणामतः लोक प्रशासन के विस्तार में वृद्धि हुई और उसका कार्य अधिकाधिक प्राविधिक स्वरूप धारण करता गया है। अब लोक कर्मचारी पहले की भांति केवल पुलिस या राजस्व अधिकारी मात्र नहीं हैं, वरन् विकास कार्यक्रम के अनेक पहलुओं से जुड़े हैं। स्वतन्त्र भारत की आर्थिक तथा सामाजिक कठिनाइयों ने एक कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज की धारणा एवं उसकी स्थापना के विचार को बल दिया है।
4. **तटस्थता-** लोक सेवा का परम्परागत गुण तटस्थता रहा है। तटस्थता का अर्थ है लोक सेवकों को राजनीतिक कार्यों व गतिविधियों से अलग बनाये रखना एवं अपने को निर्लिप्त रखना। आज के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्षता का स्थान प्रतिबद्धता ले चुकी है। फलस्वरूप नीति-निर्माण में भी लोक सेवकों की अहम भूमिका रहती है। इनके उपलब्धियों का मूल्यांकन राजनीतिक कार्यपालिका करती है।
5. **सकारात्मक प्रकृति-** लोक सेवकों के चरित्र में काफी परिवर्तन आ गया है। प्रारम्भ में ये नकारात्मक सोच रखते थे एवं नागरिक के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते थे। वर्तमान में बिल्कुल विपरीत हो रहा है, जो सोच नागरिक के विश्वास एवं विकास में बांधा बनती थी, वही अब उनकी कठिनाइयों के समाधान खोजने एवम मार्ग प्रशस्त करने को तत्पर रहती है।
6. **व्यावसायिक मानदण्ड-** लोक सेवकों में उच्च मनोबल तथा ईमानदारी बनाये रखने हेतु व्यावसायिक मानदण्डों पर काफी बल दिया जाता है। अन्य व्यवसायों जैसे चिकित्सा, पत्रकारिता, विधि आदि की भाँति यदि लोक सेवा भी एक व्यवसाय बन जाता है तो व्यावसायिक मानदण्ड तथा आचरण की संहिताएं शीघ्र ही स्थापित हो जायेंगी।
7. **प्रबन्धक के रूप में-** विकासशील देशों में विकास का लक्ष्य मुख्य है। समाज के प्रत्येक वर्ग को विकास कार्यक्रमों की जानकारी देना एवं उन तक पहुँचाने के लिए विकास कार्यक्रमों का अनुपालन सुनिश्चित करना लोक सेवकों का दायित्व बन गया है।

13.6 लोक सेवा की विशेषताएं

डॉ० एल०डी० व्हाइट के शब्दों में, लोक सेवाएं प्रशासनिक संगठन का ऐसा माध्यम हैं, जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है। आधुनिक लोक सेवा की विशेषताएं निम्नलिखित विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं-

1. **निपुण लोक सेवक-** लोक सेवा ऐसे कार्यकर्ताओं; अधिकारियों का एक व्यवसायिक वर्ग है जो कि प्रशिक्षित, कुशल, स्थायी तथा वेतन भोगी है। लोक सेवकों का कार्य, कुशल रूप से प्रशासन का संचालन करना होता है। प्रशासन का कार्य करना ही लोक सेवकों का पूर्णकालिक प्रशासनिक व्यवसाय है। प्रशासनिक कार्यों के निष्पादन हेतु उन्हें वेतन मिलता है।
2. **पदानुक्रम का सिद्धान्त-** लोक सेवकों का संगठन लोक प्रशासन के पद-सोपान के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अन्तर्गत वरिष्ठ अधिकारी अपने द्वारा दिये गये आदेशों का अनुपालन, अपने अधीनस्थ अधिकारी द्वारा सुनिश्चित कराता है।
3. **तटस्थता का दृष्टिकोण-** लोक सेवकों की यह महत्वपूर्ण विशेषता है। वे राज्य के सेवक होते हैं। इन्हें सत्तारूढ़ दलों की सेवा करनी पड़ती है।
4. **अनामतता का सिद्धान्त-** लोक सेवक प्रत्येक कार्य के निष्पादन के पश्चात अनामत ही बने रहते हैं। इनके द्वारा निष्पादित कार्यों का सेहरा जन-प्रतिनिधियों के सर मढ़ता है।
5. **निष्पक्षता-** निष्पक्ष रूप से लोक सेवा का कार्य करना ही निष्पक्षता है। ये समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति के लिए बिना पक्षपात के राज्य के आदेशों एवं नियमों को लागू करने से लेकर अनुपालन तक सुनिश्चित करते हैं।
6. **वचनबद्धता-** सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के साथ लोक सेवक वचनबद्ध होते हैं। सार्वजनिक अधिकारियों को राजनीतिक दलों का सदस्य बनने एवं उनकी बैठकों में भाग लेने की अनुमति नहीं होती है।
7. **कर्तव्य-** देश के कानून द्वारा लोक सेवकों के कर्तव्यों की व्याख्या की जाती है। अतः उन्हें संविधियों में उल्लिखित न्यूनतम तथा अधिकतम अनुज्ञाओं की सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करना होता है।

8. **उत्तरदायी-** जनता के द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के प्रति उत्तर दायी होते हैं। क्योंकि प्रजातंत्र में जनता ही सम्प्रभु होती है।

फाइनर ने अपनी रचना “ए प्रीमियर ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन” में कहा है, कि लोक सेवा का अस्तित्व लाभोपार्जन के लिए नहीं होता है। अतः इसके सदस्यों की प्रेरणा अन्तिम आश्रय के रूप में, वेतन प्राप्त करने की ही होती है, जोखिम उठाकर अधिक धन कमाने की नहीं। दूसरी बात यह कही है कि लोक सेवा सार्वजनिक होती है, अतः इनके कार्यों की दृढ़ एवं सूक्ष्म जाँच की जाती है और वे अस्वीकृत भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार से उनकी लोचशीलता तथा तत्परता सीमित हो जाती है और अन्त में लिखते हैं कि लोक सेवकों तथा उनके मन्त्रियों को निरन्तर संसद की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। इससे उन्हें अवसरों के प्रति सतर्क एवं सन्नद्ध रहने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। अन्ततः इनकी सेवाएँ व्यापक होती हैं। अतः ये अपने स्टाफ सम्बन्धों की ओर विशेष ध्यान दें और इनमें पारम्परिक प्रेम के अभाव अथवा विवाद को दूर करने के लिए सेवा की कोटि के सम्भावित व्यय पर व्यवहार की समानता उत्पन्न करें।

अभ्यास प्रश्न-

1. स्वतंत्रता पश्चात लोक सेवा आयोग का क्या नाम है?
2. आई0सी0एस0 के नाम को बदल कर अब क्या कहा जाता है?
3. लोक सेवाओं का जन्म चीन में हुआ। सत्य /असत्य
4. कौटिल्य द्वारा रचित ग्रन्थ अर्थशास्त्र है। सत्य/असत्य
5. मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। सत्य/असत्य
6. मेगस्थनीज की पुस्तक ‘इण्डिका’ है। सत्य/असत्य
7. कौटिल्य के अनुसार राज्य के सफल संचालन हेतु सप्तांग सिद्धान्त को अनुसरण करना चाहिए।

सत्य /असत्य

13.7 सारांश

संगठन को बनाने का एक उद्देश्य होता है। उस उद्देश्य के पूर्ति के लिए मानव संसाधन की भी आवश्यकता पड़ती है। लोक प्रशासन की भाषा में संगठन में कार्यरत कार्मिक को निकाल दें, तो वह एक अमूर्त वस्तु बन जाता है, अर्थात्

वह पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था मात्र रह जाता है जो संगठन के मस्तिष्क में अथवा कागज पर होती है। संगठन के भीतर विविध पदों पर कार्य करने वाले सामूहिक रूप से प्रथक सेवाओं के नाम से पुकारे जाते हैं।

13.8 शब्दावली

सेवी वर्ग- पिफनर के अनुसार 'सेवी वर्ग' को प्रशासन की आधारशिला कहा जाता है।

इण्डियन सिविल सर्विस- 1947 तक प्रतियोगिता के आधार पर चुने जाते थे। स्वतंत्रता पश्चात इसे भारतीय प्रशासनिक सेवा का नया नाम दिया गया है।

13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. संघ लोक सेवा आयोग, 2. आईएएस, 3. सत्य, 4. सत्य, 5. सत्य, 6. सत्य, 7. सत्य

13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कटारिया, सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन।
2. शर्मा एवं जैन- लोक सेवीवर्गीय प्रशासन।
3. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन।

13.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. योडर, डेल- कार्मिक प्रबन्धन एवम औद्योगिक सम्बन्ध।
2. केरने आर0 सी0- लोक कार्मिक।

13.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोक सेवा की परिभाषा दीजिए। भारत में लोक सेवा की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. लोक सेवा के अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
3. लोक सेवा के विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई- 14 अखिल भारतीय सेवाएं , केन्द्रीय सेवाएं, भर्ती एवं प्रशिक्षण

इकाई की संरचना

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 अखिल भारतीय सेवाएं

14.2.1 अखिल भारतीय सेवाओं की आवश्यकता एवं ऐतिहासिक विकास

14.2.2 अखिल भारतीय सेवाओं का गठन

14.2.3 भारतीय प्रशासनिक सेवा का महत्व

14.2.4 अखिल भारतीय सेवाओं के कार्मिकों का प्रशिक्षण एवं उसका महत्व

14.3 केन्द्रीय सेवाएं

14.3.1 केन्द्रीय सेवाओं में प्रशिक्षण

14.3.2 भारतीय विदेश सेवा

14.4 भर्ती एवं प्रशिक्षण

14.4.1 भर्ती का अर्थ

14.4.2 भर्ती प्रणाली के महत्व एवं मूल सिद्धान्त

14.4.3 भर्ती की रीतियाँ

14.4.4 चयन

14.4.5 योग्यता प्रणाली का मापदण्ड

14.4.6 प्रशिक्षण

14.4.7 प्रशिक्षण के प्रकार

14.5 सारांश

14.6 शब्दावली

14.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

कार्मिक-वर्ग सरकारी तन्त्र का संचालन करता है। नीति, विधियों, नियमों तथा विनियमों को क्रियान्वित करने के लिए प्रशासन जो भी कार्यवाहियां करता है, वे सब कर्मचारी-वर्ग द्वारा ही की जाती हैं। इनके द्वारा प्रदत्त सेवाओं को अखिल भारतीय सेवाएं कहा जाता है। अखिल भारतीय सेवाओं का गठन संविधान के अनुच्छेद- 312 के अन्तर्गत किया गया है। इसी को अखिल भारतीय सेवा अधिनियम की संज्ञा दी गयी है।

इनके चयन में तीन चरणों की प्रक्रिया अपनायी जाती है। इन्हें क्रमशः प्रारम्भिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा एवं साक्षात्कार।

चयनोपरान्त भर्ती एवं प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ होता है। भर्ती वह प्रक्रिया है, जिसमें परोक्ष रूप से संगठन का भविष्य निहित होता है, क्योंकि संगठन की सफलता एवं कुशलता कार्मिकों की प्रर्याप्तता पर आश्रित होती है। प्रशिक्षण कार्मिक प्रशासन का अभिन्न अंग है। इसके द्वारा कार्मिकों में आत्म विश्वास, निपुणता, निर्णय की क्षमता आदि में वृहद बढ़ोत्तरी होती है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के अपरान्त आप-

- अखिल भारतीय सेवाओं के गठन, महत्व एवं सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- केन्द्रीय सेवाओं के विषय में जान पायेंगे।

14.2 अखिल भारतीय सेवाएं

अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना की आवश्यकता पर टिप्पणी करते हुए संविधान प्रारूप निर्मात्री समिति के अध्यक्ष डॉ० भीम राव अम्बेडकर ने संविधान सभा के समक्ष अपने वक्तव्य में कहा था कि यह मानी हुई बात है

कि प्रत्येक देश में उसकी प्रशासकीय रचना में कुछ ऐसे पद होते हैं, जो प्रशासनिक स्तर को बनाये रखने के विचार से महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रशासनिक स्तर, इन पदों पर नियुक्त लोक सेवकों की योग्यता पर निर्भर होता है। संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि एक अखिल भारतीय सेवा होगी और केवल उस सेवा के ही सदस्य संघ भर में ऐसे महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किये जा सकेंगे। इस प्रकार अम्बेडकर ने उस योगदान पर बल दिया, जिससे इस प्रकार की सेवा द्वारा संघ और राज्यों के प्रशासन में अधिक कार्यकुशलता उत्पन्न की जा सके।

14.2.1 अखिल भारतीय सेवाओं की आवश्यकता एवं ऐतिहासिक विकास

साइमन कमीशन के अनुसार इतने विशाल क्षेत्र में यदि सम्पर्क बनाये रखना है तो केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच सेवाओं का उचित चक्र आवश्यक है। ए0डी0 गोरवाला के शब्दों में, राष्ट्रीय एकता की स्थापना में यह सेवा एक मूल्यवान योगदान सिद्ध होगी। प्रत्येक प्रान्त अपने प्रशासन में बहुत से ऐसे तत्वों की एक प्रतिकृति उत्पन्न कर लेगा, जो इस प्राचीन देश की सम्पन्नता में योग देते हैं। एक बड़ा नाटककार ऐसी विश्व सरकार की बात सोचता है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक देश का स्थानीय प्रशासन उस देश के निवासियों द्वारा ही चलाया जाता है, जिससे प्रशासन निष्पक्ष हो और साथ ही सभी देशों के निवासियों को विश्व एकता की अनिवार्यता का ज्ञान हो सके। हम भारतीय इतने भाग्यशाली हैं कि यदि हम चाहें तो इस प्रयोग को एक बड़े पैमाने पर कार्यान्वित कर सकते हैं। विघटनकारी प्रवृत्तियों को सफलतापूर्वक रोक कर एकरूपता स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह सेवा देश भर में प्रशासकीय प्रणाली में समरूपता स्थापित करने में प्रभावशाली एवं आवश्यक है।

भारत में ब्रिटिश काल में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के समय में ही भारतीय सिविल सेवा की रचना हुई थी। अतः भारत में हमेशा ही सेवाओं का अखिल भारतीय संवर्ग उपस्थित रहा है, जो कि बाद में धीरे-धीरे अखिल भारतीय संवर्गों की संघीय सरकार के विभिन्न विभागों में अधिकारियों का संवर्ग स्थापित हो गया, परन्तु ये सभी सेवाएँ गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में न होकर सीधे भारत मंत्री और उसकी परिषद के अधीन थीं। अखिल भारतीय सेवा के किसी भी पदाधिकारी को 'सपरिषद भारत मंत्री' के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकारी सेवा से अपदस्थ नहीं कर सकता था। भारतीय सिविल सेवा के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गयी थी कि अखिल भारतीय सेवा के किसी अधिकारी के साथ अनुचित व्यवहार न हो, और यदि हो तो उस अधिकारी को भारत मंत्री से अपील करने का

अधिकार प्राप्त होता था एवं प्रान्तीय गवर्नर की जाँच की उपरान्त सही शिकायत के निवारण का भी विधान था। अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी के वेतन, पेंशन; सेवानिवृत्ति, वेतन इत्यादि पर किसी भी भारतीय विधान-मण्डल को कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। चूँकि अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी लोकमत; जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थे, अतः अपने विशेषाधिकार से पूर्णतः सुरक्षित भी थे। इसलिए भारतीय शासन अधिनियम; 1919 द्वारा इसमें कुछ सुधार प्रक्रिया को अमल में लाया गया। 1924 में भारत में उच्च लोक सेवा विषयक शाही आयोग; की नियुक्ति की गयी, जिसके सभापति लार्ड के० ली थे, अतः इसे ली आयोग से भी जाना जाता है। ली आयोग ने कुछ अखिल भारतीय सेवाओं की समाप्ति की अनुशंसा की, जो उन विभागों से सम्बन्धित थी, जिन्हें 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीयों को 'हस्तान्तरित' कर दिया गया था। जैसे भारतीय शिक्षा सेवा/इण्डियन एजुकेशनल सर्विस, भारतीय कृषि सेवा/इण्डियन एग्रीकल्चरल सर्विस, भारतीय पशु-चिकित्सा सेवा/ इण्डियन वेटेरिनरी सर्विस और भारतीय अभियन्ता सेवा की सड़क तथा भवन निर्माण शाखा/ इण्डियन सर्विस ऑफ इंजीनियर्स की रोड्स एवं बिल्डिंग शाखा। लेकिन आयोग ने भारतीय सिविल सर्विस/इण्डियन सिविल सर्विस, भारतीय पुलिस सेवा/इण्डियन पुलिस, भारतीय वन सेवा/इण्डियन फॉरेस्ट सर्विस, भारतीय चिकित्सा सेवा/इण्डियन मेडिकल सर्विस और भारतीय अभियन्ता सेवा की सिंचाई शाखा/इण्डियन सर्विस ऑफ इंजीनियर्स की सिंचाई शाखा को कायम रखने की अनुशंसा और साथ ही इन सेवाओं के निरन्तर भारतीयकरण किये जाने की भी सिफारिश की थी। इसके अतिरिक्त, आयोग ने यह भी सिफारिश की कि यदि किसी विभाग का नियन्त्रण उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों को हस्तान्तरित किया जाए तो उस विभाग में उस समय कार्यरत किसी भी ब्रिटिश पदाधिकारी को आनुपातिक पेंशन लेकर सेवानिवृत्त होने का अधिकार होना चाहिए। इन सिफारिशों को क्रियान्वित किया गया था।

1935 के भारत शासन अधिनियम; द्वारा अखिल भारतीय सेवाओं में कुछ अन्य परिवर्तन भी लाए गये। इस अधिनियम की धारा 224 के अनुसार, आई०सी०एस., आई०पी०एस० और आई०एम०एस०; सिविल की सेवाओं को जारी रखने की व्यवस्था की गयी। 1947 में जब राज्य सत्ता का हस्तान्तरण भारतीयों को किया गया तो केवल दो अखिल भारतीय सेवाएँ अर्थात् आई०सी०एस० और आई०पी०एस० में ही भर्ती जारी रखी गयी और आई०एम०एस० एस० भर्ती को निलम्बित कर दिया गया। इनमें से आई०सी०एस० सबसे महत्वपूर्ण और सर्वोच्च

श्रेणी की सेवा थी, क्योंकि इनका वेतनमान, उच्च और अधिकार व्यापक होने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त थी, इसी कारण इसे 'हेवेन बौर्न-सर्विस' और 'स्टीम फ्रेम' के नाम से भी जाना जाता था।

चूंकि ब्रिटिश सरकार अपनी शक्ति के लिए अपने लोक सेवकों पर निर्भर करती थी अतः उसने उन्हें वे सभी अनुग्रह, विशेषाधिकार तथा रियायतें प्रदान कर रखी थीं, जिनके फलस्वरूप लोक सेवा को 'एक विशेष' स्थिति प्राप्त हो गयी थी।

सत्ता हस्तान्तरण के दौरान अधिकारियों की सेवा शर्तों के सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लियामेंट की सन्तुष्टि के अनुरूप व्यवस्था की गयी। इस प्रकार जुलाई 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम; में समुचित गारण्टी संनगीकृत की गयी। पुरानी सेवाओं की गारण्टी देते समय नयी भारत सरकार ने इस बात की आवश्यकता का ध्यान रखा कि इन सेवाओं के स्थान पर ऐसी सेवा की स्थापना की जाए, जो भारतीयों द्वारा नियन्त्रित हों तथा जिसमें केवल भारतीय पदाधिकारी ही हों। गवर्नर जनरल की कार्यपालिका परिषद में सरदार बल्लभ भाई पटेल तत्कालीन गृह मंत्री थे, जिनके द्वारा 1946 में ही पुरानी आईसीएस और आईपीएस के स्थान पर दो नवीन अखिल भारतीय सेवाओं के संगठन के लिए प्रान्तीय सरकारों की स्वीकृति प्राप्त कर ली गयी थी। ये दो नवीन अखिल भारतीय सेवाएँ हैं- भारतीय प्रशासनिक सेवा; आईएएस एवं भारतीय पुलिस सेवा; आईपीएस। अखिल भारतीय सेवाएँ हैं- भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) भारतीय पुलिस सेवा (आईपीएस) और भारतीय वन सेवा (आईएफएस)।

14.2.2 अखिल भारतीय सेवाओं का गठन

अखिल भारतीय स्तर पर संविधान में सिविल सेवाओं के गठन की व्यवस्था की गयी है। संविधान के अनुच्छेद- 312 में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है।

अनुच्छेद- 312 संसद को विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन करने की शक्ति प्रदान करता है। इसके अनुसार यदि राज्य सभा राष्ट्रहित में आवश्यक या इष्टकर समझती है तो राज्य सभा के उपस्थित और मतदान में भाग ले रहे सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा ऐसी सेवाओं का सृजन कर सकती है और इन सेवाओं की भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकती है। चूंकि राज्य सभा में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं, इसलिए इसके समर्थन

से नवीन सेवाओं के गठन हेतु राज्यों की सहमति सुनिश्चित हो जाती है। इसी अधिकार के अनुसार अक्टूबर 1951 में 'अखिल भारतीय सेवा अधिनियम' पारित किया गया।

संविधान निर्माण के बाद केवल एक अखिल भारतीय सेवा 'भारतीय वन सेवा' का गठन किया। जबकि भारतीय इंजीनियरिंग सेवा; सिंचाई, शक्ति, भवन निर्माण एवं सड़कें तथा भारतीय चिकित्सा व स्वास्थ्य सेवा के प्रस्ताव को अस्वीकृत किया गया।

संघ सरकार ने अखिल भारतीय सेवा अधिनियम के अनुच्छेद-3 के उप-अनुच्छेद-1 में दिए गये अधिकारों के अन्तर्गत, पुराने नियमों के कई हिस्सों के अर्थहीन हो जाने के कारण, अखिल भारतीय सेवाओं के लिए नवीन नियम एवं उपबन्ध स्थापित किए। इस अधिनियम के प्रभावी होने के पूर्व के क्रियान्वित नियमों को जारी रखा गया, अतः इस प्रकार अखिल भारतीय सेवाओं की सेवा-शर्तों के नियमों के दो वर्ग बन गये। पहले, भारत मंत्री और काउंसिल सहित गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गये पुराने नियम, जिनके अन्तर्गत आई0सी0एस0 एवं आई0पी0एस0 पदाधिकारियों की सेवा शर्तें निर्धारित की जाती थीं तथा दूसरे, 1951 के अधिनियम के अनुसार निर्मित नवीन नियम जो कि 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' और 'भारतीय पुलिस सेवा' पर लागू किए गये।

1. **भारतीय प्रशासनिक सेवा-** भारतीय प्रशासनिक सेवा; आई0ए0एस0 को पुरानी भारतीय सिविल सेवा का नवीन प्रारूप कहा जा सकता है। यह सेवा अखिल भारतीय सेवा के रूप में केन्द्र सरकार के नियन्त्रण के साथ-साथ राज्य संवर्गों में भी विभाजित है, अतः यह सम्बन्धित राज्य सरकारों के भी प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा के पदाधिकारियों का वेतन और सेवानिवृत्ति वेतन; पेंशन राज्य सरकारों द्वारा प्रदान किया जाता है, परन्तु इन पर अनुशासनिक नियन्त्रण रखने और दण्डित करने का कार्य केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है। केन्द्र सरकार अपना यह दायित्व संघ लोक सेवा आयोग की सलाह पर निभाती है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी केन्द्र और राज्य के बीच परिभ्रमण के नियमानुसार प्रतिनियुक्त होते हैं, जिससे केन्द्र और राज्य दोनों ही सरकारों को लाभ होता है। इस प्रणाली को सरकारी भाषा में 'अवधि प्रणाली' अथवा टेन्योर सिस्टम के नाम से जाना जाता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा की दूसरी विशेषता इसका बहुउद्देशीय स्वरूप का होना भी है। इसमें ऐसे 'सामान्यज्ञ' प्रशासक होते हैं, जिनसे समय-समय पर व्यापक विविधतापूर्ण दायित्व एवं कार्य निभाने की अपेक्षा की जाती है। उदाहरणस्वरूप कानून व्यवस्था का दायित्व, राजस्व वसूली, व्यापार, वाणिज्य या उद्योग का विनियमन, कल्याणकारी कार्यक्रम, विकास तथा प्रसार कार्य आदि। इस प्रकार भारतीय प्रशासनिक सेवा एक बहु-पक्षीय सेवा का स्वरूप ले लेती है।

अखिल भारतीय सेवाओं में से एक 'भारतीय पुलिस सेवा' स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व की सेवा है, जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा से निम्न दो बातों से अलग है- पहला, इसके अधिकतर अधिकारी राज्यों में ही कार्य करते हैं, कारण केन्द्र में पुलिस से सम्बन्धित अधिक पद नहीं होते हैं। दूसरा- इनका वेतनमान और स्तर आई0ए0एस0 से कम है। जबकि इस सेवा के अधिकारी भी इसी सम्मिलित अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के माध्यम से ही नियुक्त किये जाते हैं।

भारतीय पुलिस सेवा के लिए सर्व प्रथम पांच महीने का बुनियादी प्रशिक्षण दिया जाता है। तत्पश्चात विशेष प्रशिक्षण हेतु 'सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी' हैदराबाद भेजा जाता है। जहाँ इन्हें हथियारों से सम्बन्धित प्रशिक्षण आदि भी दिया जाता है। लगभग एक वर्ष के प्रशिक्षण कार्यक्रम के पाठ्यक्रम में अपराध, मनोविज्ञान, अपराध का पता लगाने में काम आने वाले वैज्ञानिक उपकरण, भ्रष्टाचार निवारक उपाय एवं तत्काल सहायता पहुँचाने के तरीकों आदि का समावेश होता है। तत्पश्चात परिवीक्षाधीन अधिकारी को संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षा में सफलता प्राप्त करनी होती है, उसके बाद ही पुलिस उप-अधीक्षक के पद पर नियुक्ति होती है। यहाँ पर भी नियुक्ति पूर्व एक वर्षीय व्यावहारिक प्रशिक्षण का प्रावधान है।

राज्य संवर्गों में बंटा हर संवर्ग, सम्बन्धित राज्य सरकार के नियन्त्रण में होता है, जो कि मूलतः संघ सरकार के नियन्त्रण में भी होता है। पुलिस सेवा का प्रशासन गृह मंत्रालय करता है, लेकिन इसके कार्मिकों के बारे में सामान्य नीति निर्धारण कार्मिक तथा प्रशासनिक सुधार विभाग के अधीन है।

2. **भारतीय वन सेवा-** अखिल भारतीय सेवाओं में 'भारतीय वन सेवा' का गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किया गया है। भारतीय वन सेवा सन् 1967 में संसद द्वारा एक अधिनियम पास किए जाने के बाद प्रारम्भ

हुई। इसका वेतनमान एवं स्तर दोनों अखिल भारतीय सेवाओं आई0ए0एस0 और आई0पी0एस0 से निम्न है। इस सेवा के लिए अधिकारियों का चयन, संघ लोक सेवा आयोग द्वारा ही अलग से एक परीक्षा आयोजित करके किया जाता है। चूंकि इसकी प्रकृति एवं कार्य में विशिष्टता एवं विशेषज्ञता पायी जाती है, अतः यह सामान्य सिविल सेवा के अन्तर्गत नहीं आती है। इस सेवा का प्रबन्ध भी कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग के अधीन ही होता है, जो कि सभी अखिल भारतीय सेवाओं में नियुक्ति, अनुशासन एवं सेवा की शर्तों आदि की व्यवस्था करता है। इसका बुनियादी प्रशिक्षण मसूरी में लगभग तीन महीने का होता है। यह प्रशिक्षण इन्हें अखिल भारतीय एवं केन्द्रीय सेवाओं के चयनित अधिकारियों के साथ ही दिया जाता है। तत्पश्चात परिवीक्षाधीन अधिकारी को देहरादून स्थित 'भारतीय वन संस्थान' में दो वर्ष का सख्त प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है, जिसकी समाप्ति के बाद इन्हें एक और अन्तिम परीक्षा पास करती होती है तभी इन्हें नियुक्ति मिलती है।

भारतीय वन सेवा भी अन्य अखिल भारतीय सेवाओं की भाँति संवर्ग सेवा है। इसके पदाधिकारी भी प्रतिनियुक्ति होकर केन्द्र सरकार की सेवा में आ सकते हैं, परन्तु यह अवधि पूरी होते ही इन्हें अपनी सेवा में वापस जाना पड़ता है।

14.2.3 अखिल भारतीय सेवाओं का महत्व

अखिल भारतीय सेवा देश में सर्वाधिक प्रतिष्ठा वाली सेवा है। सर्वोच्च स्थान प्राप्त होने के कारण इसका महत्व भी बढ़ जाता है। इस सेवा के पदाधिकारी प्रशासकीय शक्ति एवं अधिकारों का पूरी तरह उपयोग करते हैं। चूंकि भारत में संघीय शासन प्रणाली है। अतः इस प्रणाली द्वारा केन्द्र व राज्य दोनों ही सरकारों को लाभ होता है। साथ ही अधिकारियों को भी संघ व राज्य दोनों सरकारों की नीतियों और कार्यक्रमों से परिचय प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ये अधिकारी संघीय तथा राज्य प्रशासनों के बीच प्रशासकीय समन्वय स्थापित करने के सर्वोत्तम माध्यम सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ यह भी गौरतलब है कि संघीय शासन में संघ और राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बने होने चाहिए और इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण यह है कि अधिकारी तन्त्र पर किसी एक का पूर्ण नियन्त्रण न हो। इस आवश्यकता की पूर्ति प्रशासकीय सेवा के द्वारा की जाती है। क्योंकि भारतीय प्रशासनिक सेवा पर न तो पूर्णतः केन्द्र का नियन्त्रण

रहता है और न ही राज्य का नियन्त्रण रहता है। इस सेवा के द्वारा नियुक्त पदाधिकारी को राज्य संवर्ग प्राप्त होता है, जो 'अवधि प्रणाली' (टेन्योर सिस्टम) के अन्तर्गत केन्द्र या अन्य राज्य में प्रतिनियुक्त किए जाते रहते हैं।

अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती प्रक्रिया के अन्तर्गत भारत में अखिल भारतीय तथा केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती का कार्य संघ लोक सेवा आयोग, नई दिल्ली द्वारा परीक्षाओं के संचालन के माध्यम से किया जाता है। विदित हो कि 1979 से पहले सिविल सेवा की केवल एक परीक्षा होती थी। 1975 में सरकार द्वारा प्रो0 डी0एस0 कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त समिति की अनुशंसा के आधार पर, 1979 से सिविल सेवा की प्रारम्भिक परीक्षा प्रारम्भ हुई, जिसका उद्देश्य प्रधान परीक्षा/मुख्य परीक्षा के लिए उम्मीदवारों का चयन, छटनी या स्क्रीनिंग करना है। यह परीक्षा प्रायः जून में आयोजित होती है। सिविल सेवा की प्रधान/मुख्य परीक्षा; लिखित और साक्षात्कार द्वारा विभिन्न अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के पदों के लिए उम्मीदवारों का चयन किया जाता है। यह प्रधान/मुख्य परीक्षा प्रायः दिसम्बर माह में होती है। इस परीक्षा में बैठने की न्यूनतम उम्र 21 वर्ष और अधिकतम 30 वर्ष है।

14.2.4 अखिल भारतीय सेवाओं के कार्मिकों का प्रशिक्षण एवं उसका महत्व

भारत सरकार के कार्यक्षेत्र में निरन्तर वृद्धि तथा प्रशासकीय कार्यों के अत्यन्त प्राविधिक, विशिष्ट तथा जटिल रूप धारण करने के कारण लोक सेवकों का प्रशिक्षण बहुत अधिक महत्व रखता है। लोक प्रशासन में प्रशिक्षण का अर्थ कार्मिकों के पदों से सम्बन्धित ज्ञान तथा कौशल में सुधार अथवा वृद्धि के लिए किया गया प्रयास है। साथ ही यह कार्मिकों के दृष्टिकोण तथा मूल्यों को एक खास दिशा में उन्मुख करने का एक माध्यम है।

भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट के अनुसार 'प्रशिक्षण मानवीय साधनों में निवेश है। यह मानवीय क्षमता को सुधारने और सेवीवर्ग की कुशलता बढ़ाने का महत्वपूर्ण साधन है।'

अमरीका की 'सेवायोजन समिति' की रिपोर्ट के अनुसार प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो मुख्य रूप से लोक सेवक में वर्तमान तथा भावी कार्य को सम्पन्न करने के लिए गतिशीलता देती है। वह उपयुक्त स्वभाव, विचार, क्रिया, ज्ञान और दृष्टिकोण का उसी के अनुरूप विकास करती है।

अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के लिए चुने गये प्रत्याशियों को पाँच महीने के आरम्भिक प्रशिक्षण देने के उपरान्त उन्हें उनकी सेवा के अनुरूप विभिन्न संस्थानों में विशेष प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाती है।

आरम्भिक प्रशिक्षण में सिविल सेवाओं के लक्ष्य, कर्तव्य तथा पेशे की नैतिकता सम्बन्धित सूचनाएं प्रदान की जाती हैं। इनके पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण उद्देश्य उच्च सेवाओं के अधिकारियों को देश के संवैधानिक, आर्थिक व सामाजिक स्वरूप की जानकारी प्रदान करना होता है, जिसके अन्तर्गत उन्हें कार्य सम्पादित करना होगा एवं नीति और उनसे जुड़े कार्यक्रमों का निर्धारण कर उन्हें निर्मित एवं लागू करने के कार्य में योगदान देना होगा। प्रशिक्षण का उद्देश्य इन अधिकारियों को सरकारी तन्त्र एवं लोक प्रशासन के व्यापक सिद्धान्तों की जानकारी देना भी है और साथ-साथ इस प्रकार के प्रशिक्षण से विभिन्न सेवाओं के अधिकारियों के मध्य न केवल समान जनसेवा की भावना पैदा होती है, बल्कि व्यापक रूप से समान दृष्टिकोण के प्रति जुड़ाव भी पैदा हो जाता है।

पांच महीने से इस बुनियादी पाठ्यक्रम के बाद आई0ए0एस0 को छोड़कर अन्य सेवाओं के परिवीक्षाधीन अधिकारी अपनी-अपनी सेवाओं के अनुरूप संस्थागत प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं में अग्रसर किये जाते हैं परन्तु आई0ए0एस0 के परिवीक्षाधीन अधिकारी अकादमी में ही संस्थागत प्रशिक्षण के दूसरे पाठ्यक्रम में प्रवेश कर जाते हैं।

द्वितीय चरण, व्यावहारिक प्रशिक्षण; राज्य, बुनियादी प्रशिक्षण प्रथम चरण; पांच माह, सेंडविच पाठ्यक्रम, नवीन प्रशिक्षण प्रणाली।

‘भारतीय प्रशासनिक सेवा’ हेतु 1969 से सरकार द्वारा ‘सेंडविच पाठ्यक्रम’ जैसे नवीन प्रशिक्षण का आरम्भ किया जा चुका है। इसके अन्तर्गत पहले चरण तथा बुनियादी पाठ्यक्रम के मध्य अधिकारी को राज्य में व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु भेजा जाता है, यह वह राज्य होता है, जिसका उसे संवर्ग प्राप्त है। तत्पश्चात् दूसरे चरण में फिर प्रशिक्षण हेतु अकादमी भेजा जाता है। इस प्रकार पूरे प्रशिक्षण में उसे व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके उपरान्त प्रशिक्षण सम्बन्धी अन्य नियमों को पूरा करने के बाद ही नियुक्ति होती है। सन् 1970 तक भारत सरकार का कार्मिक प्रबन्ध देखने वाली मुख्य एजेन्सी गृह मंत्रालय थी, जो कि वित्त मंत्रालय के साथ मिल-जुलकर सार्वजनिक सेवाओं का प्रबन्धन करती थी। इसके अन्तर्गत सामान्य सेवा-शर्तें गृह मंत्रालय द्वारा निर्धारित होती थी तथा वित्त सम्बन्धी सेवा शर्तें वित्त मंत्रालय के द्वारा निर्धारित की जाती थीं। परन्तु गृह मंत्रालय कार्मिक प्रबन्ध की मुख्य एजेन्सी थी, अतः अखिल भारतीय सेवाओं पर इसका सम्पूर्ण नियन्त्रण था। मंत्रालय विभिन्न सेवाओं में चयन, अनुशासन एवं सेवा शर्तों के समान स्तर को कायम रखने हेतु

सभी सेवाओं पर एक समान रूप से लागू होने वाले विषयों की देख-रेख किया करता था। 1970 के बाद गृह मंत्रालय के कार्मिक विभाग द्वारा 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' एवं 'भारतीय वन सेवा' का प्रबन्धन किया जाने लगा तथा 'भारतीय पुलिस सेवा' का प्रबन्धन कार्य गृह मंत्रालय द्वारा ही किया जाता है।

14.3 केन्द्रीय सेवाएँ

केन्द्रीय सेवाएँ, वो सिविल सेवाएँ हैं जो पूरी तरह केन्द्र सरकार के अधीन होती हैं, जबकि अखिल भारतीय सेवाओं पर केन्द्र का पूर्णतः नियन्त्रण नहीं होता है। केन्द्रीय सेवा भी राष्ट्रीय स्तर की सेवा में नियुक्ति तथा सेवा शर्तों के सम्बन्ध में कानून संसद बनाती है। इस सेवा के अन्तर्गत शामिल सेवाएँ हैं- भारतीय राजस्व सेवा, भारतीय रेलवे लेखा सेवा, भारतीय चुंगी तथा केन्द्रीय आबकारी सेवा, भारतीय लेखा तथा संपरीक्षा सेवा, भारतीय प्रतिरक्षा लेखा सेवा, भारतीय डाक सेवा, भारतीय रेलवे यातायात सेवा, सैन्य भूमि एवं छावनी सेवा, भारतीय आयुध कारखाना सेवा तथा केन्द्रीय सूचना सेवा।

केन्द्र सरकार की सिविल सेवाओं में नियमित केन्द्रीय सिविल सेवाएँ तथा इनके अतिरिक्त ऐसे बाहरी सिविल पद होते हैं, जिन्हें मिलाकर इसे सामान्य केन्द्रीय सेवा कहा जाता है। इस सेवा के कर्मचारी राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। केन्द्रीय सिविल सेवाओं और अन्य सिविल पदों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है- प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ। इनमें से प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती संघ लोक सेवा-आयोग द्वारा आयोजित 'अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा' के माध्यम से होती है।

14.3.1 केन्द्रीय सेवाओं में प्रशिक्षण

केन्द्रीय सेवाओं में प्रथम श्रेणी के पद हेतु 'लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी' मसूरी में पांच महीने का बुनियादी/अथवा आरम्भिक पाठ्यक्रम पूरा करना होता है। तत्पश्चात अपनी-अपनी सेवाओं के अनुरूप अन्य संस्थानों में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है, जहाँ पर उनको सेवा के अनुरूप ही प्रशिक्षण देने की व्यवस्था होती है। इसी दौरान इन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है, जिसके उपरान्त परिवीक्षाधीन अधिकारी को एक विभागीय परीक्षा पास करनी होती है, जिसके विषय उसकी सेवा से सीधे सम्बन्धित होते हैं। फिर इनकी नियुक्ति कर दी जाती है।

केन्द्रीय सेवाओं की सेवा-शर्तों के निर्धारण का कार्य कार्मिक विभाग का है तथा वित्त मंत्रालय द्वारा इन पदों के वेतनमान तथा अन्य वित्तीय पक्षों जैसे- वेतन निर्धारण, वेतन वृद्धि की मंजूरी, पेंशन, ग्रेज्युटी एवं भविष्य निधि में अंशदान आदि विषयों को देखा जाता है।

14.3.2 भारतीय विदेश सेवा

भारतीय विदेश सेवा, प्रथम श्रेणी की एक केन्द्रीय सिविल सेवा है। इस सेवा का गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किया गया एवं इस पर पूर्णतः केन्द्र सरकार का नियन्त्रण होता है। अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के प्रथम श्रेणी के सफल उम्मीदवारों को इस सेवा में नियुक्त किया जाता है। सिविल सेवाओं में इस सेवा को सर्वाधिक सम्मान, प्रतिष्ठा, उच्चस्तर, वेतन तथा भत्ते मिलते हैं। इसके अधिकारियों को विदेशों में भारतीय मिशनों एवं दूतावासों में नियुक्त किया जाता है।

भारतीय विदेश सेवा का प्रबन्धन विदेश मंत्रालय के पास होता है। जिसमें कार्मिक विभाग एवं वित्त मंत्रालय भी शामिल है। भारतीय विदेश सेवा के नवनियुक्त अधिकारी का प्रशिक्षण कार्यक्रम तीन वर्ष का होता है, जिसके अन्तर्गत इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनय, भूगोल आदि विषयों की जानकारी दी जाती है तथा इन्हें आई0ए0एस0 के परिवीक्षाधीनों के साथ 'संस्थागत प्रशिक्षण' भी दिलाया जाता है। इनके प्रशिक्षण कार्यक्रम में मुख्यतः जिले के व्यावहारिक कार्य, सचिवालय सम्बन्धी कार्य तथा भाषाओं से सम्बन्धित प्रशिक्षण कार्यक्रम शामिल होता है।

14.4 भर्ती एवं प्रशिक्षण

पिछले अध्याय में 'लोक सेवाओं के बारे में विस्तृत चर्चा की जा चुकी है, जो कि कार्मिक प्रशासन का अभिन्न अंग है। 'भर्ती' वह प्रक्रिया है जिसमें परोक्ष रूप से संगठन का भविष्य निहित होता है, क्योंकि प्रत्येक संगठन की सफलता एवं कुशलता कार्मिकों की पर्याप्तता पर आश्रित रहती है। किसी भी देश के लिए, जो कि लोक सेवाओं के लिए कुशल अधिकारियों व कर्मचारियों को प्राप्त करना चाहता है, अत्यन्त आवश्यक है कि वह भर्ती की एक सुदृढ़ एवं युक्तिसंगत नीति अपनाये।

14.4.1 भर्ती का अर्थ

सामान्य अर्थ में 'भर्ती' शब्द को नियुक्ति का समानार्थक माना जाता है। परन्तु, यह सही नहीं है। प्रशासन की तकनीकी शब्दावली में भर्ती का अर्थ किसी पद के लिए समुचित तथा उपयुक्त प्रकार के उम्मीदवारों को आकर्षित करना है।

भर्ती से आशय भावी कर्मचारियों को खोजने एवं उन्हें संगठन में रिक्त कृत्यों के लिए आवेदन करने हेतु प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया है।

इडविन बी0 फिलिप्पो के अनुसार, भर्ती का आशय प्रयाप्त मानवशक्ति स्रोतों का विकास करना एवं उनको बनाये रखना है। इसमें उपलब्ध कार्मिकों का एक निकाय स्थापित करना भी सम्मिलित है, ताकि संगठन में अतिरिक्त कार्मिकों की आवश्यकता पड़ने पर प्राप्त किया जा सके।

डेल ए0 बीच ने भर्ती एक ऐसी प्रक्रिया माना गया है, जिसके द्वारा कार्य करने को तत्पर भावी कार्मिकों का पता लगाया जाता है और उन्हें नौकरी के लिए आवेदन-पत्र देने को प्रोत्साहित किया जाता है। अतः भर्ती का कार्य संगठन में उपेक्षित मानव शक्ति के पूर्वानुमान बनाये जाने के उपरान्त सम्पादित किया जाता है।

निषेधात्मक और निश्चयात्मक भर्ती की विचारधारा राजनैतिक प्रभाव को समाप्त करने अथवा पक्षपात को रोकने के उद्देश्य से यदि भर्ती की जाती है तो इसे निषेधात्मक विचारधारा का नाम दिया जाता है। प्रारम्भ में जब 'योग्यता प्रणाली' ने 'लूट प्रणाली' का स्थान ग्रहण कर लिया था तो लोक सेवा आयोग को 'लूट की राजनीति' को समाप्त करने का एक अस्त्र समझा जाता था। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु भर्ती प्रक्रिया में सभी व्यक्तियों को लोक सेवा के लिए खुले बाजार में प्रतियोगिता करने के लिए योग्य वर्ग वंचित रह जाता, क्योंकि भर्ती की प्रक्रिया खुले रूप में हो रही थी।

कालान्तर में 'लूट प्रणाली' के द्वारा किये गये निर्णयों पर अंकुश लगने के साथ-साथ भर्ती के सम्बन्ध में सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे योग्य सक्षम व्यक्ति को प्राप्त करने पर बल दिया जाने लगा। कार्मिक वर्ग का चुनाव करने वाला अभिकरण सक्रिय होकर योग्य एवं सर्वोत्तम अर्हताओं वाले व्यक्तियों को चुनने लगा। इस विचारधारा को निश्चयात्मक भर्ती की संज्ञा दी जाती है।

14.4.2 भर्ती प्रणाली के महत्व एवं मूल सिद्धान्त

किसी भी संगठन में भर्ती की प्रक्रिया का अत्यधिक विशेष महत्व होता है। इसके द्वारा ही लोक सेवाओं का स्तर एवं योग्यता सुनिश्चित की जाती है और प्रशासनिक संरचना में परिवर्तन लाया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भर्ती प्रणाली द्वारा ही प्रशासनिक मशीनरी को जनकल्याणकारी तथा समाजोन्मुख बनाया जाता है। भर्ती ही लोक सेवा का आधार होती है, जो इसे लक्ष्य तक पहुँचाती है, क्योंकि राज्य में सरकार के कल्याणकारी दायित्वों की पूर्ति लोक सेवाओं के माध्यम से होती है। अतः योग्यता आधारित, निष्पक्ष तथा व्यावहारिक भर्ती प्रणाली का महत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।

ओ0 ग्लेन स्टॉल ने अपनी महत्वपूर्ण रचना में कहा है ‘भर्ती सम्पूर्ण लोक सेवाओं के ढाँचे की आधार शिला है’¹। उन्होंने भर्ती को कार्मिक ढाँचे का ‘कॉर्नर स्टोन’ कहा है। वास्तव में भर्ती की प्रक्रिया में आधारभूत सामग्री उचित होनी चाहिए एवं साथ-साथ यह प्रक्रिया जितनी ईमानदारी से होगी, प्रशासन की सफलता उतनी ही अधिक होगी। भारत में आधुनिक लोक सेवाओं की शुरुआत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान सन् 1853 के राजलेख के माध्यम से हुई थी। हालांकि इसके पहले भी लोक सेवाएँ थीं, किन्तु उनमें भर्ती का आधार नितांत स्वैच्छित था। जबकि 1853 से योग्यता का सिद्धान्त को अपनाया गया। भारत में भर्ती प्रणाली के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

1. सिविल सेवाओं में भर्ती योग्यता के आधार पर की जाती है। योग्यता की परख खुली प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से होती है। जिसको संचालन कराने का संवैधानिक कार्य ‘लोक सेवा आयोग’ संस्था का है।
2. लोक सेवा आयोग; भर्ती हेतु संस्था को निर्मित करने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि यह संस्था राजनीतिक प्रभावों से दूर रहकर एवं निष्पक्ष होकर भर्ती का कार्य करे।
3. भारत में भर्ती की दो प्रक्रियाएँ हैं- प्रत्यक्ष भर्ती और पदोन्नति द्वारा भर्ती। प्रायः पदोन्नति द्वारा भरे जाने वाले पदों का अनुपात सेवा की प्रकृति पर निर्भर करता है।

अखिल भारतीय सेवाओं के 33 प्रतिशत पद राज्य प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारियों में से पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से, अखिल भारतीय सेवाओं में से अनेक सेवाओं, जैसे- भारतीय विदेश सेवा, भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और केन्द्रीय सेवाओं की विभिन्न श्रेणियों के लिए एक ही परीक्षा आयोजित होती है। इसमें बैठने वाले की आयु वर्तमान में नवीन

सरकार द्वारा प्रत्याशी की उच्चतम आयु 26 वर्ष से बढ़ाकर 30 वर्ष कर दी है। ब्रिटिश 'सामान्य'; जनरल प्रणाली पर आधारित इस परीक्षा में विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि वाला; बी0ए0/बी0एस0सी0 या समकक्ष उपाधि का प्रत्याशी बैठ सकता है। इसके अन्तर्गत पहले एक उच्च स्तर की लिखित परीक्षा ली जाती है, जिसमें प्रत्याशी की बौद्धिक क्षमता एवं किताबी जानकारी का अनुमान लगाया जाता है, तत्पश्चात संघ लोक सेवा आयोग साक्षात्कार के रूप में व्यक्तित्व एवं चरित्र को आंकने हेतु परीक्षा लेता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा में चयन हेतु तीन परीक्षाएँ आयोजित की जाती हैं- प्रारंभिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा और साक्षात्कार।

भारतीय नागरिक, जिसकी न्यूनतम आयु 21 वर्ष, अधिकतम आयु के सम्बन्ध में भिन्नता है। सामान्य के लिए 30 वर्ष, पिछड़ा वर्ग के लिए 35 वर्ष, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए 35 वर्ष शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति के लिए 40 वर्ष निर्धारित है।

शैक्षिक योग्यता, किसी मान्यता प्राप्त संस्था से स्नातक उपाधि प्राप्त हो, मुक्त और दूरस्थ शिक्षा से प्राप्त डिग्री सामान रूप से मान्य होगी।

परीक्षा के अवसर, सामान्य को चार अवसर, पिछड़ा वर्ग को सात अवसर, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए कोई सीमा नहीं और शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति के लिए सात अवसर होते हैं।

परीक्षा के लिए आवेदन करने वाले यदि परीक्षा में भाग नहीं लेते तो वह अवसर के रूप में नहीं गिना जायेगा। परन्तु यदि प्रारंभिक परीक्षा का एक प्रश्न-पत्र दे देते हैं तो वह एक अवसर माना जायेगा।

14.4.3 भर्ती की रीतियाँ

भर्ती दो प्रकार से की जाती है। प्रत्यक्ष एवं पदोन्नति, सरकारी कर्मचारी-वर्ग की भर्ती दोनों उपरोक्त तरीकों से की जाती है। जब योग्य उम्मीदवारों का चयन खुला रखा जाय तो प्रत्यक्ष भर्ती अथवा सीधी भर्ती कहा जाता है। इसके विपरीत विभाग में कार्यरत कर्मिकों तक ही सीमित करते हुए उन्हें उच्च पद आसीन करने की प्रक्रिया को पदोन्नति कहते हैं। इसे सेवा के अन्दर से की जाने वाली भर्ती कहा जाता है। प्रत्यक्ष भर्ती की प्रणाली का गुण लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के अनुरूप है, जिसमें समस्त योग्य व्यक्तियों को सेवा पद प्राप्त करने का समान अवसर

प्रदान होता है। दूसरा गुण है कि इस प्रकार के भर्ती प्रक्रिया के द्वारा अधिक विस्तृत स्रोतों के माध्यम से योग्य एवं प्रतिभाशाली लोगों को लोक सेवक बनने का अवसर प्रदान होता है।

अखिल भारतीय सेवाएं अपने आप में एक अलग वर्ग है। उनके लिए अधिकांश भर्ती प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर प्रत्यक्ष रीति से की जाती है। दोनों प्रकार के भर्ती प्रक्रिया में गुण एवं दोष दिखते हैं। उदाहरणार्थ सीधी भर्ती वाला कम आयु का होकर अपने अधीनस्थ को जो आयु में बड़ा है, आदेश का अनुपालन सुनिश्चित कराने की सत्ता रखता है।

वहीं दूसरी तरफ पदोन्नति पाने वाला सेवीवर्ग आधिकार्य अनुभव एवं आयु का आधार होता है। फलस्वरूप नई भर्ती को संगठन के वातावरण, कार्य-शैली एवं संगठन के प्रति निष्ठा का अनुभव प्राप्त होता है। इनके द्वारा नई प्रत्यक्ष भर्ती को मार्गदर्शन भी प्राप्त होता है, जो कि हमारे समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

व्यावहारिक अनुभव से यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष भर्ती एवं पदोन्नति की रीति में से किसी से भी अकेले ही काम नहीं चल सकता। यदि उच्चतर पदों पर बाहर से बड़े पैमाने पर भर्ती की जाये तो यह सेवाओं के भीतर उपलब्ध योग्यता एवं प्रतिभा का निरादर है और उससे सेवाओं में आजीवन व्यवसाय की धारणा को ठेस लगती है। इसके विपरीत, प्रत्यक्ष भर्ती की पद्धति न अपनाये जाने से भी सेवा का विकास बांधित होता है, क्योंकि उस स्थिति में सेवाओं के भीतर आत्मसंतोष की भावना उत्पन्न हो जायेगी और वे प्रतिभागी बन जायेगी।

14.4.4 चयन

चयन, भर्ती का दूसरा सोपान है। आवेदक के आवेदन-पत्र प्राप्त होने के पश्चात यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। योग्यतम अभ्यर्थी का चयन करके उसे नियुक्ति के लिए प्रमाणित किया जाता है। कार्मिक प्रशासन के इतिहास में चयन प्रक्रिया में तीन प्रकार की प्रणाली का प्रयोग होता था। ये प्रकार थे- पदों की नीलामी, संरक्षण प्रथा एवं लूट प्रथा।

पदों की नीलामी, फ्रांस में क्रान्ति के पहले पदों की नीलामी होती थी और उच्चतम बोली बोलने वाले को पद दिया जाता था। वर्तमान के सन्दर्भ में यह हास्यापद लगता है, परन्तु इस प्रकार की प्रक्रिया राज्य को आय स्रोत माना जाता था।

संरक्षण प्रथा, अधिकांश राज्यों में संरक्षण प्रथा के माध्यम से कार्मिकों का चयन किया जाता था। इस प्रणाली में वे ही अभ्यर्थी योग्य होते थे जो व्यक्तिगत अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण से बहुत प्रिय होते थे।

लूट प्रथा, संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रचलन प्रारम्भ से ही प्रचलित था। इस प्रथा के अन्तर्गत वे ही कार्मिक योग्य पाये जाते थे, जिनके समर्थन एवं सहयोग से राजनीतिक दल विजयी होता था। जीतने के उपरान्त सत्ताधारी दल अपने ही समर्थकों को पदों पर नियुक्त करते थे। जब कभी अगले चुनाव में राजनीतिक दल जीतता था तो वह पहले वाले विरोधी सभी कार्मिकों को पदच्युत कर देता था।

कालान्तर में जैसे-जैसे लोकतन्त्र विश्व में व्याप्त होता गया, उपरोक्त प्रकार के भर्ती प्रक्रिया पर प्रश्न चिन्ह उठने लगा। अंततः इस प्रकार के भर्ती स्वरूप में बदलाव आया और योग्यता प्रणाली को अपनाया गया। थोड़े ही समय में यह योग्यता प्रणाली सर्वव्यापक रूप से पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गयी।

14.4.5 योग्यता प्रणाली का मापदण्ड

अधिकांश राष्ट्रों में अधिकतर नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर ही की जाती हैं। कुछ राष्ट्र अपवाद हो सकते हैं। योग्यता का आंकलन परीक्षण के माध्यम से होता है। अभ्यर्थियों की तुलनात्मक योग्यता और उपयुक्तता की जाँच करने के लिए चार प्रकार के परीक्षण प्रचलित हैं। लिखित परीक्षा, मौखिक परीक्षा अथवा साक्षात्कार, कार्य कुशलता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन तथा शिक्षा एवं अनुभव के मूल्यांकन द्वारा तुलनात्मक चयन।

लिखित परीक्षा, का प्रत्याशियों की योग्यताओं की जाँच करने के लिए सभी देशों द्वारा आमतौर पर उपयोग किया जाता है। हमारे देश में इस परीक्षा का उद्देश्य यह है कि प्रत्याशियों की सामान्य बुद्धिमत्ता अथवा श्रेष्ठता के ज्ञान का पता लगाया जाय। परीक्षाएँ उन विषयों में ली जाती हैं, जो कि स्नातक एवं स्नात्कोत्तर में पढ़ाए जाते हैं। इस प्रकार की परीक्षा के समर्थकों का यह विश्वास है कि श्रेष्ठतर बुद्धि एवं ज्ञान वाले व्यक्ति हर प्रकार का कार्य कर सकते हैं और अपने आपको सभी परिस्थितियों के अनूकूल बना सकते हैं। मैकाले इसी विचारधारा के समर्थक थे।

लिखित परीक्षा में लघु उत्तरीय लिखित परीक्षा द्वारा प्रत्याशी को प्रश्न-पत्र में सौ या अधिक प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं। इन प्रश्नों का स्वरूप बहु विकल्पीय उत्तरों पर आधारित होता है। एक प्रश्न के चार उत्तर होते हैं, इन्हीं में से सही उत्तर को निशान लगाना होता है।

निबन्धात्मक परीक्षा में प्रत्याशी को इस प्रकार की प्रणाली में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर विस्तृत रूप में लिखना पड़ता है। ये वर्णनात्मक एवं विवेचनात्मक प्रकृति के निबन्ध की परीक्षा होती है। अतः परीक्षा प्रणाली से प्रतिभागी के भावनात्मक तत्व का आंकलन किया जाता है।

लिखित परीक्षा के आधार पर प्रतियोगियों के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय नहीं हो पाता है। अभ्यर्थी लिखित परीक्षा में योग्य सिद्ध हो सकता है, तथापि उसके भीतर धैर्य, अभिक्रम, सर्तकता, निर्णायक क्षमता एवं कार्य करने की गति का सर्वथा अभाव है। जबकि ये गुण एक लोक सेवी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं। इस प्रकार से लिखित परीक्षा के उपरान्त मौखिक परीक्षा के द्वारा ही उम्मीदवार का सही मूल्यांकन संभव है।

तकनीकी कार्यों अथवा व्यवसायिक रोजगार के लिए कर्मचारियों की भर्ती करते समय सम्पन्नता अथवा कार्य कुशलता की परीक्षा विधि का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ मुद्रलेखकों, आशुलिपिकों अथवा तकनीकी कार्यों को करने की अपनी प्रवीणता एवं कुशलता का प्रदर्शन करना होता है। प्रत्याशी के चुनाव के लिए उसकी शैक्षणिक योग्यताओं एवं अनुभव का भी मूल्यांकन किया जाता है। ऐसे मूल्यांकन पद्धति में अभ्यर्थी के शारीरिक जाँच भी की जाती है। फलस्वरूप कार्मिक शारीरिक रूप से स्वस्थ है और अपने दायित्वों का निर्वाहन सुचारु रूप से सम्पन्न करेगा।

14.4.6 प्रशिक्षण

प्रशिक्षण, कर्मचारी को यथार्थता का पाठ पढ़ाने, आत्म निर्भर तथा स्वतंत्र बनाने और उसमें निर्णय की क्षमता उत्पन्न करने के लिए प्रशिक्षण बड़ा महत्वपूर्ण है। लोक सेवकों के प्रशिक्षण पर सन् 1944 में ग्रेट ब्रिटेन में गठित समिति ने कुछ उद्देश्य तथा सिद्धान्त निर्धारित किये थे। प्रशिक्षण के पाँच मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. प्रशिक्षण के द्वारा लोक सेवकों को कार्य निष्पादन की यथार्थता एवं शुद्धता को सत्य के रूप में स्वीकार करने लायक बनाये।
2. परिवर्तनशील परिस्थितियों में लोक सेवक अपने आप को समयानुकूल कार्य निष्पादन करने के लिए उपयुक्त हों।
3. लोक सेवक यन्त्रवत न बने रहें। अपने विभाग द्वारा समाज के लिए सम्पादित की जाने वाली सेवा से उसके कार्य का क्या सम्बन्ध है? वह अपने विस्तृत संगठन में क्या कार्य सम्पन्न कर रहा है?

4. प्रशिक्षण किसी एक कार्य को सम्पन्न करने के लिए नहीं होना चाहिए वरन् अन्य कार्यों के कुशल निष्पादन हेतु भी तैयार करें।
5. कर्मचारी-वर्ग के मनोबल की ओर गम्भीरता से विचार करें।

14.4.7 प्रशिक्षण के प्रकार

प्रशिक्षण के कुछ महत्वपूर्ण प्रकार निम्नलिखित हैं-

1. **औपचारिक और अनौपचारिक प्रशिक्षण-** विभागाध्यक्षों द्वारा प्रदत्त प्रशिक्षण जो भाषण अथवा अनुदेशों के रूप में होता है, औपचारिक प्रशिक्षण कहलाता है। यह औपचारिक प्रशिक्षण कुछ प्रवीणताओं तथा कार्यविधियों से सम्बन्धित वास्तविक अनुदेशों के रूप में होता है। कर्मचारी को विभाग की कार्य प्रणाली, उसके कार्यों की प्रकृति तथा उस आचार संहिता के बारे में दिये जाते हैं, जिसका कि उसे कार्यालय में पालन करना होता है। कार्य सम्पादन करते-करते जो अनुभव कर्मचारी को प्राप्त होता है, उसको अनौपचारिक प्रशिक्षण कहते हैं। जब वह अपना कार्य सम्पादित करता है, तो उसके बारे में अनेक बातों की जानकारी प्राप्त होती है। लोक प्रशासन में यही परम्परागत प्रशिक्षण होता चला आया है।
2. **अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन प्रशिक्षण-** समय की अवधि इस कौशल की सरलता अथवा कठिनता पर अवलम्बित होती है। सेवीवर्ग के अवधि प्रकृति के बारे में ध्यान रखा जाता है, स्थायी है अथवा अस्थायी।
3. **प्रवेश पूर्व या सेवाकालीन प्रशिक्षण-** सेवा में प्रविष्ट होने से पूर्व जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उससे भर्ती के लोग भावी सेवा कार्य के लिए तैयार होते हैं। दूसरे शब्दों में स्कूल कालेजों की सभी शिक्षाएं पूर्व प्रवेशीय प्रशिक्षण हैं, क्योंकि इस प्रकार भी लोग प्रायः राजकीय सेवाओं के लिए तैयार किये जाते हैं। उदाहरण के रूप में इंजिनियरिंग, मेडिकल संस्थाएं आदि। सेवाकालीन प्रशिक्षण उन लोगों के लिए होते हैं, जो पूर्व से ही सेवा में लगे होते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण का उद्देश्य कार्य का समुचित एवं श्रेष्ठतम निष्पादन है। ऐसा प्रशिक्षण पदोन्नति के लिए भी आवश्यक होता है। सेवाकालीन प्रशिक्षण तभी दिया जाता है जब वे नौकरी में प्रवेश पा लेते हैं।

4. **विभागीय प्रशिक्षण-** जब स्वतः कार्यालय या विभाग में ही प्रशिक्षण का प्रबन्ध होता है, तब इसको विभागीय प्रशिक्षण कहते हैं। प्रत्येक विभाग अपनी विशेष आवश्यकताओं के अनुसार प्रशिक्षण करता है। इसी प्रकार भारतीय सेवा के लिए प्रशिक्षण संस्था दिल्ली में खोली गयी थी। वह अब मसूरी में है और इसको प्रशासनिक राष्ट्रीय अकादमी के नाम से जानते हैं।
5. **कौशल प्रशिक्षण-** इस प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों में उस विशेष योग्यता को उत्पन्न करना है, जो विशेष विभागों में सहायक हो सकता है। उदाहरण के लिए शिक्षकों का प्रशिक्षण, इसका उद्देश्य अध्यापन प्रणाली सिखाना है। भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय लेखा प्रशिक्षण तथा लेखा सेवा, आयकर सेवा, केन्द्रीय सचिवालय सेवा प्रशिक्षण संस्थान हैं, जो प्रशिक्षण का कार्य सम्पन्न करते रहते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी मसूरी में है। सत्य/असत्य
2. 'लूट पद्धति' की शुरूआत कहाँ हुई?
3. भारत में भर्ती कितने प्रकार से की जाती है?
4. प्रो० एस० डी० कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त समिति की अनुशंसा के आधार पर सन् 1979 से सिविल सेवा की प्रारम्भिक परीक्षा शुरू हुई। सत्य/असत्य

14.5 सारांश

उपरोक्त अध्याय के अध्ययन पश्चात हम अखिल भारतीय सेवाओं के स्वरूप से भली-भाँति परिचित हो चुके होंगे। साथ ही साथ केन्द्रीय सेवाओं का भी वर्णन किया गया है। भर्ती एवं प्रशिक्षण को भी लिपिबद्ध किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमने भारत में प्रचलित अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं के बारे में जानने का अवसर प्राप्त हुआ है।

साथ ही साथ राज्यों के लिए, राज्य लोक सेवाओं के बारे में जाना है और इसके साथ में हमने यह भी देखा है कि भारत में लोक सेवकों की भर्ती के कौन से तरीके अपनाये जाते हैं। इसी क्रम में हमने यह जाना है कि पदोन्नति भी भर्ती का एक तरीका है।

14.6 शब्दावली

आई0ए0एस0- भारतीय प्रशासनिक सेवा, आई0पी0एस0- भारतीय पुलिस सेवा, आई0एफ0एस0- भारतीय वन सेवा, आई0एफ0एस0- भारतीय विदेश सेवा, भर्ती- नियुक्ति का समानयिक अर्थ।

14.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. संयुक्त राज्य अमेरिका, 3. दो प्रकार, 4. सत्य

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एस0 डब्लू0 एवं केरने आर0 सी0- लोक कार्मिक।
2. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन।
3. योडर, डेल- कार्मिक प्रबन्धन एवम औद्योगिक सम्बन्ध।

14.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. गोयल एस0एल0- पब्लिक परसोनेल एडमिनिस्ट्रेशन।
2. कटारिया सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन।
3. शर्मा एवं जैन- लोक सेवी वर्गीय प्रशासन।

14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. सेवीवर्ग नीति की परिभाषा दीजिए। सेवीवर्ग प्रशासन में इसके महत्व की व्याख्या कीजिए।
3. लोक कार्मिक प्रशासन में भर्ती अभिकरणों के कार्य एवं भूमिका की विवेचना कीजिए।
4. प्रशिक्षण से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकार क्या हैं?

इकाई- 15 स्वामी-कर्मचारी सम्बन्ध

इकाई की संरचना

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 प्रशासनिक संगठन: अर्थ एवं उद्देश्य

15.3 संगठन का मनोवैज्ञानिक पहलू: मैरी फॉलेट का विश्लेषण

15.3.1 रचनात्मक असहमति

15.3.2 आदेश देना

15.4 नियोजक कर्मचारी सम्बन्ध: व्यवहारवादी पहलू

15.5 भारत में प्रशासनिक व्यवस्था

15.6 भारत में प्रशासनिक विभाग

15.7 राजनीतिज्ञ और लोक सेवक विवाद

15.7.1 राजनीतिज्ञों (मंत्रियों) की प्रशासनिक अनभिज्ञता

15.7.2 लोक सेवकों की प्रशासनिक विशिष्टता

15.8 लोक सेवकों तथा मंत्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध

15.8.1 सम्बन्धों की वास्तविकता

15.9 सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ विवाद

15.10 सामान्य कर्मचारी सेवा विवाद

15.11 कर्मचारी संगठन: लक्ष्य

15.11.1 कर्मचारी संघों का उद्देश्य

15.12 भारत में कर्मचारी संघ।

15.13 कर्मचारी संघों की प्रमुख समस्याएँ

15.14 सेवा विवाद एवं हड़तले परिषदें

15.14.1 हितले परिषदे- अर्थ एवं उद्देश्य

15.14.2 भारतीय सिविल सेवा में हितले परिषदे

15.15 मूल्यांकन

15.16 सारांश

15.17 शब्दावली

15.18 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

15.19 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.20 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

15.21 निबन्धात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

स्वामी-सेवक (कर्मचारी) का विवाद बहुत पुराना है। मार्क्स ने तो दोनों के सम्बन्धों में असहमति, मदभेद, टकराव और संघर्ष को आदि काल से देखा और पूर्वीवाद तक उसके दर्शन करता रहा। प्रशासनिक चिन्तकों ने इस तनाव और टकराव को बड़ी गहनता से अपना विषय बनाया और इसका मनोवैज्ञानिक तथा व्यवहारवादी विश्लेषण किया। भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था के बाद से लोक प्रशासन के संदर्भ में स्वामी सेवक विवाद सवाभाविक रूप से सामने आया। यह विवाद मंत्रियों और लोक सेवकों के मध्य है, सामान्यज्ञों और विशेषज्ञों के मध्य है तथा नियोजकों और सामान्य कर्मचारियों के मध्य है। विवाद का कारण मनोवैज्ञानिक भी है व्यवहारवाद भी, भौतिक भी और अधिभौतिक भी है यह विवाद सरकारी स्तर पर भी है और निजी क्षेत्र में भी। इस सम्बन्ध में समाधान के प्रयास भी हुए हैं। कर्मचारी संघों की भूमिका और असैनिक कर्मचारी परिषदों के महत्व पर गहनता से सोचा गया है। लेकिन क्योंकि कर्मचारी संघों का राजनीतिकरण हो गया है इस लिए समस्या बढ़ी है, कम नहीं हुई है।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- प्रशासनिक संगठन का अर्थ और उद्देश्य समझ पायेंगे।

- संगठन के मनोवैज्ञानिक पहलू को मैरी फालेट के विश्लेषण के संदर्भ में समझ सकेंगे।
- नियोजक-कर्मचारी के सम्बन्धों के व्यवहारिक पहलू से परिचित होंगे।
- भारत की प्रशासनिक व्यवस्था को जान पायेंगे।
- मंत्रियों और लोक सेवकों तथा सामान्यजों और विशेषजों के विवाद के कारण और परिणामों को जान पायेंगे।
- सामान्य कर्मचारी विवाद की प्रकृति और कर्मचारी संघों के बारे में जानकारी ले सकेंगे।
- असैनिक सेवा विवाद में हितले परिषदों का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा यह जान पायेंगे।

15.2 प्रशासनिक संगठन: अर्थ एवं उद्देश्य (Administrative Organization: Meaning and Aim)

शासन, प्रशासन तथा संगठन यह तीनों शब्द एक दूसरे के पूरक हैं। शासन साध्य है, प्रशासन माध्यम तथा संगठन साध्य का साधन। 'किसी उद्देश्य या कार्य की सफलता संगठन पर टिकी होती है। दूसरे अर्थों में स्वस्थ शासन और स्वच्छ प्रशासन मजबूत संगठन पर आधारित है। शायद इसीलिए प्रसिद्ध प्रशासनिक चिन्तक एल0डी0 व्हाइट ने कहा है कि "हम संगठन के युग में रह रहे हैं।" संगठन की संरचना के अनेक आधार हैं। लूथर गुलिक ने ऐसे चार आधारों की पहचान की है- उद्देश्य या प्रयोजन(Purpose), प्रक्रिया(Process), लोग(People) तथा क्षेत्र(Place) यह आधार Four P's के नाम से जाने जाते हैं। स्थिति, आवश्यकता या मांग के अनुसार किसी एक पर संगठन का गठन होता है। लेकिन सभी प्रकार के संगठनों में एक सामान्यता होती है। सभी का रूप पिरामिड की भांति होता है जिसे हम त्रिभुजीय रूप भी कह सकते हैं अर्थात् तल से विस्तृत तथा शीर्ष पर संकुचित। या इसको यूँ समझिए कि शीर्ष पर मुख्य कार्यपालक होता है (एक) और क्रमशः अनेक चरणों से गुजरते हुए आदेशों तथा उत्तर दायित्वों से लेस अधिकारीगण एवं कर्मचारीगण होते हैं। स्वाभाविक है जब मुख्य कार्यपालक एक होगा, अधिकारीगण अनेक तथा कर्मचारीगण अधिक तब संगठन का रूप त्रिभुजीय हो जायेगा।

देश में किसी एक संगठन से काम नहीं चलता है। राज्य के जितने उद्देश्य हैं उतने विभाग होते हैं और प्रत्येक विभाग की एक संघटनात्मक संरचना होती है। इस तरह सारे विभाग मिलकर जिस बड़ी प्रशासनिक संरचना का निर्माण करते हैं उसका नाम है कार्यपालिका(Executive), मुख्य रूप से कार्यपालिका में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा

मंत्रिमण्डल (भारत में) के सदस्य आते हैं जो अपने कार्यों और दायित्वों को उद्देश्यपूर्ण सीमा तक पहुँचाने के लिए विभिन्न अभिकरणों (Agencies) की सहायता लेते हैं। इनमें विशेष हैं- सूत्र अभिकरण (Line Agency), तथा स्टॉफ अभिकरण (Staff Agency)। सूत्र अभिकरण सरकार के (कार्यपालिका) प्राथमिक कार्यों को पूरा करते हैं। स्टॉफ अभिकरण कार्यपालिका की नीति से सम्बन्धित या नियोजन के बारे में परामर्श, मंत्रणा तथा शिक्षण प्रदान करते हैं तथा क्रियान्वयन के लिए माहौल तैयार करते हैं। संक्षेप में संगठन हो (विभागों का), कार्यपालिका हो, सूत्र अभिकरण हो या स्टॉफ अभिकरण-सब का एक मानवीय पहलू है जो सम्बन्धात्मक (Relational) है।

15.3 संगठन का मनोवैज्ञानिक पहलू- मैरी फॉलेट (Psychological aspect of Organization: Mary Follet's Analysis)

किसी भी संगठन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहलू उस संगठन में कार्यरत लोग होते हैं जिनको नियोजक (बॉस), कर्मचारीगण (Personnel), राजनेता और नौकरशाह अथवा सेवी वर्ग कहा जाता है। संगठन या संगठन की पदसोपानियता (Hierarchy) में पारस्परिक सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। यह सम्बन्ध विधिक भी होते हैं और मानवीय भी। इन रिश्तों को औपचारिक तथा अनौपचारिक (Formal and Informal) कहा जा सकता है।

संगठन में कार्यरत लोगों के पारस्परिक रिश्तों की सबसे बड़ी व्याख्या अमरीकी प्रशासनिक चिन्तक मैरी पार्कर फॉलेट (1868-1933) ने की है। पार्कर फॉलेट ने कर्मचारीगण के सन्दर्भ में, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के तमाम रिश्तों का अध्ययन करके वास्तविकता (Realism) तथा आदर्शवाद (Idealism) को मिलाने का बड़ी सुन्दरता से काम किया है। वह एक ऐसी लेखिका है जिसने एक राजनीतिक वैज्ञानिक की हैसियत से प्रशासन के सामाजिक पहलुओं पर नजर डाली तथा प्रशासन एवं प्रबन्धन में उत्पन्न होने वाली सामाजिक समस्याओं का मनोवैज्ञानिक समाधान खोजने का सफल प्रयास किया।

15.3.1 रचनात्मक असहमति (Constructive Conflict)

संगठन चाहे सरकारी हों, गैर-सरकारी, व्यापार के बारे में हों या उद्योगों के बारे में, सिन्डीकेटों के हों या विश्वविद्यालयों के सब जगह फॉलेट की नजर में असहमति, मतभेद, संघर्ष की समस्या विद्यमान है।

1925 में फॉलेट ने 'Bureau of Personnel Administration' के सम्मुख अपना प्रसिद्ध शोध पत्र 'रचनात्मक असहमति'(Constructive Conflict) प्रस्तुत किया। इस शोध पत्र में उसने जो निष्कर्ष सामने रखे, वे थे-

संगठन की किसी भी क्रिया में असहमति(Conflict) एक सामान्य प्रक्रिया है। इन मतभेदों का सामाजिक महत्व होता है और वे संगठन के लिए समृद्धशाली होते हैं।

असहमति या मतभेद न अच्छे होते हैं, न बुरे। उनको भावनात्मक या मूल्यात्मक आधार पर नहीं देखना चाहिए। मतभेद कोई युद्ध नहीं है, यह केवल असहमति की अभिव्यक्ति है। विचारों में मतभेद और हितों में मतभेद होना स्वाभाविक है। यह मतभेद नियोजक (मालिक) और कर्मचारी (नौकर) के मध्य हो सकता है, प्रबन्धकों के मध्य या निर्देशकों के मध्य हो सकता है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है।

असहमति, मानव संगठनों की अपरिहार्य विशेषता है। इसलिए इसकी आलोचना न करके, इस से लाभ उठाना चाहिए।

मनुष्य इच्छाओं का पुतला है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक सोच है, एक मानसिकता है, एक स्वाभाव है। वह उसके अनुसार आचरण करता है चाहे वह उसका परिवार हो या कोई सामाजिक संगठन।

सवाल यह है कि किस प्रकार से असहमति को रचनात्मक बनाया जाये? फॉलेट ने रचनात्मकता के लिए तीन तरीके सुझाये- वर्चस्व, समझौता, तथा एकीकरण।

1. **वर्चस्व(Domination)**- इसका अर्थ है एक पक्ष की दूसरे पक्ष पर विजय असहमति की समस्या को हल करने का यह सरलतम उपाय है। लेकिन यह क्षणिक है, दूरगामी नहीं है यहाँ जो पराजित(Dominated) है या जिस पर वर्चस्व स्थापित किया गया है उसके मन में असहजता की भावना बनी रहती है और वह विद्रोह के लिए तैयार रहता है। इसलिए टकराव की सम्भावना बनी रहती हैं।
2. **समझौता(Compromise)**- दूसरा तरीका है समझौता जिसके माध्यम से टकराव समाप्त किया जा सकता है। इस में कुछ देना, कुछ लेना होता है। छूट की गुंजाइश होती है। यहाँ संगठन की प्रक्रिया जिसमें असहमति से रुकावट आती है, जारी रहती है। यहाँ परेशानी यह है कि बहुत कम ऐसे लोग हैं जो 'कुछ' छोड़ना पसन्द करते हैं।

3. एकीकरण (Integration)- असहमति के समाधान का एकीकरण तीसरा तरीका है। इसमें दो इच्छाओं को एकीकृत कर दिया जाता है और किसी भी पक्ष को अपनी इच्छाओं को त्यागना नहीं पड़ता है। मैरी फॉलेट की नजर में यह तरीका असहमति के समाधान में ज्यादा अच्छा है। समझौते में तत्काल कुछ खोना पड़ता है लेकिन एकीकरण में कुछ, नया मूल्य हासिल होता है। इस समाधान में नई तकनीकें निकलती हैं। यह समय और संसाधनों की बचत करता है। एकीकरण समस्या की जड़ तक जाता है और टकराव को स्थायी रूप से रोक देता है।

एकीकरण के आधारों (**Bases of Integration**) पर फॉलेट ने विशेष जोर दिया है। पहला कदम यह होना चाहिए कि मतभेदों (differences) को सामने लाना चाहिए, उनको दबाना नहीं चाहिए। फॉलेट ने लिखा “हम तब तक एकीकृत नहीं कर सकते (मतभेदों को) जब तक हमको यह पता न चले कि वे हैं क्या।” इसलिए आवश्यकता यह है कि हम टकराव से सम्बन्धित वास्तविक मुद्दों को खोजें, पहचानें और उनको समझें।

दूसरे, एकीकरण हासिल करने का दूसरा आधार है पूरे मामले को अलग-अलग घटकों में तोड़ना और मतभेद में शामिल दोनों पक्षों की मागों पर गौर करना। अर्थात् मामले की बारीकी से जांच पड़ताल करना।

तीसरे, मतभेदों का पूर्वानुमान लगाना एकीकरण का तीसरा कदम है। मतभेद के पूर्वानुमान का मतलब उसकी उपेक्षा करना नहीं है, बल्कि उसके साथ अलग अलग तरह से पेश आना है। फॉलेट की नजर में एकीकरण शतरंज के खेल की तरह है। लेकिन पूर्वानुमानों के साथ उनके उत्तरों की अच्छी तैयारी भी जरूरी है। लोगों में निश्चित नजरिया विकसित करना जरूरी है।

एकीकरण मतभेद दूर करने का सर्वोत्तम तरीका है, लेकिन इसके रास्ते में कुछ बाधाएँ भी हैं- दुराग्रह, जिद, अहं तथा अहंभाव यह ऐसे तत्व हैं जो एकीकरण में बाधाएँ डालते हैं। इसलिए, मैरी फॉलेट के अनुसार उच्च बौद्धिकता, कुशाग्र बोध (Keen Perception) भेदी दृष्टि (Discrimination) तथा प्रभावशाली खोजी प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है। झगड़ा करना बड़ा आसान है। काम करने का बेहतर रास्ता चुनना जो समस्या का समाधान करे, मुश्किल है।

एकीकरण की राह में एक और बाधा है वह है लोगों पर वर्चस्व से खुश होने का स्वभाव। जो अहंकारी हैं, स्वयं में केन्द्रित हैं, उनके लिए समझौता और एकीकरण नीरस रास्ते हैं। वर्चस्व (Domination) का आनन्द ही कुछ और है। यह मानसिकता एकीकरण की प्रक्रिया को रोक देती है।

तीसरी बाधा जो एकीकरण का रास्ता रोकती है वह है समस्याओं को सिद्धान्त बना देना। सिद्धान्त से जड़ता आती है। बौद्धिक अनुबन्ध समस्याएँ हल नहीं कर सकते।

‘भाषा’ बांधा भी है और समाधान भी। भाषा मतभेद बढ़ा सकती है और भाषा ही सामंजस्य पैदा कर सकती है। इसलिए भाषा का प्रयोग सोच समझकर होना चाहिए। टकराव रोकने का यह बहुत छोटा सा नुस्खा है जिसे फॉलेट ने लिखा है।

राजनेताओं की भी मतभेद बढ़ाने में अहम भूमिका है। वे अनावश्यक बातें करते हैं, अनर्गल वक्तव्य देते हैं और मतभेद को बढ़ाते हैं।

अंत में फॉलेट ने प्रशिक्षण के अभाव को मतभेद के लिए जिम्मेदार ठहराया है। पूर्व कल्पित योजनाओं को ‘ताकत के बल पर’ अथवा ‘धक्का’ देकर जबरन लागू करने की प्रवृत्ति असहमति को प्रोत्साहित करती है। इसलिए फॉलेट ने सुझाव दिया कि प्रबन्धकों और कर्मचारियों दोनों को सहयोग की कला में माहिर होना चाहिए।

15.3.2 आदेश देना (Giving Order)

संगठन में कार्यरत लोगों (नियोजकों तथा कर्मचारिण) के मध्य मतभेद या टकराव का एक बड़ा कारण “आदेश देने” से सम्बन्धित है। मैरी फॉलेट ने आदेश देने का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। आदेश देने के कुछ स्थापित सिद्धान्त होते हैं। फॉलेट के अनुसार ज्यादातर लोग (अधिकारी) आदेश देने के सिद्धान्तों को जहन में न रखकर आदेश देते रहते हैं। वे समझते हैं कि आदेश देना बड़ा आसान है और उम्मीद करते हैं कि बिना सवाल किये अधीनस्थ उन्हें स्वीकार कर लेंगे। लेकिन ऐसा नहीं है। “अतीत का जीवन, प्रशिक्षण, अनुभव, भावनाएँ, विश्वास, पूर्वाग्रह इत्यादि व्यक्ति के स्वभाव को निश्चित करते हैं।” मनोवैज्ञानिकों ने इन्हें “आदत प्रतिमान”(Labit Patterns), “क्रिया प्रतिमान” (Action Pattern) तथा “मोटर सेट्स”(Motor Sets) कहा है। जब तक यह स्वभाव नहीं बदले जायेंगे, लोग नहीं बदलेंगे। आदेशों का पालन महज इसलिए नहीं किया जाता है, क्योंकि कर्मचारीगण अपनी परिपक्व(Life Long) आदतों को नहीं बदल सकते। इसलिए आदेश कर्ताओं को अपनी

आदत, अपना नजरिया, अपना मिजाज बदलना होगा और फिर अधिनस्थों की आदतें और उनका स्वभाव बदलना होगा। आदेश देते समय, स्थान, समय और परिस्थितियों (Environment) को ध्यान में रखना होगा। आदेश देने का अन्दाज भी बदलना होगा। परेशान करने वाला या व्यथा (Harassing) में डालने वाला, निरंकुश और असहनशील आचरण नये मतभेदों को पैदा करता है। यदि मातहतों की भावनाओं तथा उनके आत्म-सम्मान का ध्यान नहीं रखा गया, तो हड़तालें होंगी, सम्बन्धों में तनाव आयेगा। 'बास' को अच्छी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। एक 'बॉस' में और एक 'दबंग' में अन्तर होना चाहिए।

स्वामी (बॉस) तथा कर्मचारीगण के सम्बन्धों को जितने मनोवैज्ञानिक ढंग से समझाने और सुलझाने का काम मैरी पार्कर फॉलेट ने किया है वह संगठन में कार्यरत लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों में असहमति, टकराव तथा मतभेदों के समाधान का आधार बन सकता है।

15.4 नियोजक-कर्मचारी सम्बन्ध: व्यवहारिक पहलू (Employer-Employee Relation: Behavioral Aspect)

चाहे सरकारी संगठन हो या निजी उद्यम नियोजकों और कर्मचारियों के मध्य सम्बन्ध प्रशासनिक विचारकों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय रहा है। उन्होंने बड़ी गहराई से इन सम्बन्धों का अध्ययन किया, उनका विश्लेषण किया और तनाव, टकराव और सामंजस्य का वैज्ञानिक तथा व्यवहारवादी समाधान तलाशा। उनका मानना है कि संगठन में कर्मियों (Personnel) के मध्य सम्बन्धों की प्रकृति उत्पादन तथा नीति क्रियान्वयन पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालती है। भारतीय प्रशासन पर जाने से पूर्व यहाँ यूरोपीय तथा अमरीकी चिन्तकों के विचारों को नियोजक-कर्मियों के सम्बन्ध के परिप्रेक्ष में समझना जरूरी हैं।

जहाँ मैरी फॉलेट ने नियोजकों कर्मचारियों के सम्बन्धों को असहमति या मतभेद के नजरिये से देखकर 'रचनात्मक असहमति' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, वहाँ एफ0डब्ल्यू0 टेलर (1865-1915) ने 'सोलजरिंग' (Soldiering) का विचार रखा। जब कर्मचारी अपनी क्षमता से कम काम करें तो यह स्थिति 'सोलजरिंग' है। यह भावना कि ज्यादा काम करेंगे तो अधिक उत्पादन होगा और कर्मचारी अतिरिक्त हो जायेंगे ओर निकाल दिये जायेंगे, प्रोत्साहन रहित (Non-Incentive) मजदूरी व्यवस्था या मजदूरी कम होने का डर होना, गैर-वैज्ञानिक, सिद्धान्त

विहीन तरीकों के कारण मजदूरों की समय और प्रयास की बर्बादी को होना-सोलजार्गिंग हैं। टेलर “मानसिक क्रान्ति” का आह्वान करता है ताकि “नियोजकों तथा कर्मचारियों में अधिकतम खुशहाली” पैदा हो।

ऐलटन मयो (1880-1949) ने ‘मानव समूह’ की पहचान की और किसी संगठन में कार्यरत व्यक्तियों पर उसका प्रभाव रेखांकित किया। उसने मजदूरों (कर्मियों) की थकान, ऊब, मनोबल, काम के माहौल व कर्मियों पर उसके असर का अध्ययन करके नियोजक-कर्मचारी के सम्बन्धों की विवेचना की है। यहाँ साफ निष्कर्ष यह है कि माहौल (Work Environment) का कर्मियों पर प्रभाव पड़ता है।

मयो की देख-रेख में सम्पन्न प्रमुख हाथोर्न (Hawthorne) प्रयोगों से समूहों के व्यवहार और प्रबन्ध में उनके प्रभावों की सटीक जानकारी मिली। अपने इस प्रयोग में मयो को पता लगा कि कर्मि भौतिक परिवर्तनशीलताओं से कम, गैर-भौतिक परिवर्तनों जैसे सामाजिक संगठनों, अनुमानित प्रबन्धन के इरादों, से ज्यादा प्रभावित होते हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि कोई भी कार्य कर्मचारियों की भावनाओं और रूख या अभिवृत्तियों से प्रभावित होता है।

संगठन पर गहराई से विचार करने वाला चिन्तक चेस्टर बरनार्ड (1866-1961) है। “मनुष्यों में दैहिक, सामाजिक और जैविक सीमायें होती हैं”। इस परिकल्पना के साथ बरनार्ड संगठन में कार्यरत कर्मियों के सम्बन्धों का विश्लेषण करता है। सहकारिता और सामाजिकता सीमाओं को पार करने का सर्वोत्तम रास्ता है। उसके अनुसार संगठन ऐसी जागरूक व्यवस्था है जिसे दो या अधिक लोग संचालित करते हैं। एक लक्ष्य और सहयोग संगठन की सफलता का मूलमंत्र है।

अब्राहम मैस्लो (1908-1970) आवश्यकताओं की क्रमिकता पर मानव प्रेरणा का सिद्धान्त (Theory of Human motivation) विकसित करता है। मैस्लो के अनुसार आवश्यकताओं (Needs) पांच प्रकार की हो सकती है- शरीर सम्बन्धी, सुरक्षा सम्बन्धी, सामाजिक, आत्म सम्मान सम्बन्धी और आत्म प्रवृत्त (प्रेरणादायक) सम्बन्धी।

इन जरूरतों की क्रमिकता तैय की जा सकती है। शरीर सम्बन्धी जरूरतें सबसे नीचे तथा आत्म-प्रवृत्त या विकास की सबसे ऊपर होंगी। सब जरूरतें पूरी होनी चाहिए यदि असंतोष दूर करना है। मैस्लो के इस सिद्धान्त से नतीजा

यह निकला कि संगठनों को अपने सदस्यकर्मियों को सक्रिय बनाये रखने के लिए पुरस्कार एवं अवसर प्रदान करते रहना चाहिए।

क्रिस अर्गिरिस (1923) की सारी उत्सुकता इस प्रक्रिया को मालूम करने की है जिस के कारण व्यक्ति और संगठन दोनों एक दूसरे की जरूरत को महसूस करते हैं। वह संगठन के उद्देश्यों तथा व्यक्तियों के निजी लक्ष्यों में समन्वय बिठाने की बात करता है। उसका विश्वास है कि निजी लक्ष्यों की पूर्ति से संगठन के उद्देश्य पूरे हो सकते हैं। अर्गिरिस व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं तथा संगठनात्मक उद्देश्यों, व्यक्तिगत दक्षता और संगठनात्मक परिस्थिति तथा व्यक्तिगत व्यवहार व संगठनात्मक भूमिका की एकात्मकता की वकालत करता है।

20वीं सदी के छठे दशक में व्यवहारवादियों ने प्रबन्धन में मानवीय समस्याओं का गहन अध्ययन करना शुरू कर दिया था। यह चिन्तक मानव प्रेरणा के लिए नई तकनीकें तलाश करने में लगे थे। इनमें मैस्लो तथा अर्गिरिस के अतिरिक्त, लिंकट, हैर्जबर्ग तथा मैकग्रेगोर का नाम लिया जा सकता है। हैजबर्ग (1923-2000) ने 'प्रेरणा' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त का मानव संसाधन के प्रबन्ध के क्षेत्र में व्यापक महत्व है। उसके अध्ययन का केन्द्रीय बिन्दु है "सन्तोष" और "असन्तोष"। यह कारक कर्मियों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। कुछ कार्य संतोष प्रदायक होते हैं जैसे उपलब्धि, पहचान, स्वाकार्य, जिम्मेदारी और प्रगति। लेकिन दूसरी ओर संगठन अथवा नियोजक की नीति, प्रशासन, पर्यवेक्षण, वेतन, अन्तरव्यैक्तिक (Interpersonal) सम्बन्ध तथा काम का माहौल आदि असन्तोष के कारक हैं। संतोष के कारक प्रेरणादायक होते हैं लेकिन असन्तोष के कारकों को हेजबर्ग स्वास्थ्य विज्ञान (Hygiene) कहता है।

फ्रेड डब्ल्यू रिंस (1917-2008) ने स्वामी (बॉस), प्रबन्धक या निर्देशक तथा कर्मचारी गण के संदर्भ में प्रशासन का विश्लेषण किया और जोर देकर कहा कि प्रशासन और उसका माहौल एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए अन्तः क्रिया की ऐसी प्रक्रिया को समझना बहुत जरूरी है। यह प्रशासन के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण तरीका (Approach) है। इस दृष्टिकोण को रिंस ने परिस्थितिकीय (Ecological) दृष्टिकोण कहा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रशासनिक चिन्तकों ने संगठन से सम्बन्धित व्यक्तियों (प्रबन्धकों, निर्देशकों, नौकरशाहों, अधिकारियों, मालिकों तथा आम सेवकों, कर्मचारियों तथा सेवी वर्गों) के मध्य सम्बन्धों का

मनोवैज्ञानिक तथा व्यवहारवादी अध्ययन करके टकरावों को दूर करने का, समस्याओं के समाधान का तथा संगठन में समरसता और सहयोग लाने का प्रयास किया है।

15.5 भारत में प्रशासनिक व्यवस्था (Administrative system in India)

पिछले पन्नों में स्वामी तथा कर्मचारीगण के सन्दर्भ में यूरोपीय तथा अमरीकी प्रशासनिक चिन्तकों के विचारों और सिद्धान्तों को 'सामान्य' (General) के परिप्रेक्ष्य में समझाया गया है। उनके सिद्धान्त वे आधार हैं जिनके माध्यम से स्वामी-कर्मचारी विवादों को विशिष्ट के संदर्भ में सुलझाया जा सकता है। यहाँ विशिष्ट (Particular) है। भारत की सरकारी और गैर-सरकारी प्रशासनिक व्यवस्था और उस से जुड़े स्वामी-कर्मचारी के सम्बन्ध और इन सम्बन्धों से उपजे विवाद और उनका समाधान। भारत एक लोकतांत्रिक संसदात्मक राजनीतिक व्यवस्था वाला देश है, जिसको ब्रिटेन से प्रशासनिक यांत्रिकी (Administrative Mechanism) विरासत में मिली है। राजनीतिक तथा प्रशासनिक संरचना की दृष्टि से दोनों देशों में काफी समानताएँ हैं, अन्तर केवल संवैधानिक राजतंत्र (ब्रिटेन) तथा गणराज्य (भारत) का है।

प्रशासनिक व्यवस्था चाहे जैसी हो, उसका स्वरूप सदा ही संगठनात्मक होता है। इसका अर्थ है प्रशासन संगठन पर आधारित होता है। विभागों का आधार संगठन है। एल0डी0 व्हाइट ने कहा: “हम संगठन के युग में रह रहे हैं।” शासन के कुछ उद्देश्य होते हैं। उद्देश्यों को पूरा करने के लिए नीतियाँ बनती हैं। संगठन इन नीतियों के क्रियान्वयन का माध्यम है।

प्रत्येक देश में प्रशासन का संगठन एक पिरामिड की भाँति होता है। यह बात समझाई जा चुकी है कि मुख्य कार्यपालक पिरामिड के शीर्ष पर होता है। कर्मियों की संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जाती है विस्तृत होता जाता है। ऊपर से नीचे तक संगठन में पदों के अनुसार अधिकारी और कर्मी होते हैं। इनमें आपस में एक रिश्ता होता है। यह रिश्ते औपचारिक और अनौपचारिक दोनों होते हैं।

यहाँ कार्यपालिका (Executive), प्रशासन तथा प्रबन्धन (Management) को समझना जरूरी है। तीनों शब्दों में कुछ अन्तर है। 'कार्यपालिका' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में शासन-प्रशासन चलाने वाले व्यक्तियों के लिए किया जाता है। कार्यपालिका को अपने कार्यों और दायित्वों को प्रभावशाली ढंग से सम्पन्न करने के लिए कुछ

मानवीय उपकरणों को आवश्यकता होती है। यह मानवीय उपकरण (Human Operates) विभिन्न अभिकरणों के रूप में सामने आते हैं। इनमें, सूत्र अभिकरण और स्टॉफ अभिकरण महत्वपूर्ण हैं।

सूत्र अभिकरण प्रशासनिक व्यवस्था के मूल आधार हैं। इनका काम कार्यपालिका के प्राथमिक कार्यों को पूरा करना, नीतियों को लागू करना, शासन के उद्देश्यों को मूर्त रूप देना, संगठन की संरचना को चुस्त-दुरुस्त रखना, अनिवार्य संचार व्यवस्था स्थापित करना तथा नियंत्रण के साधनों की स्थापना करना होता है।

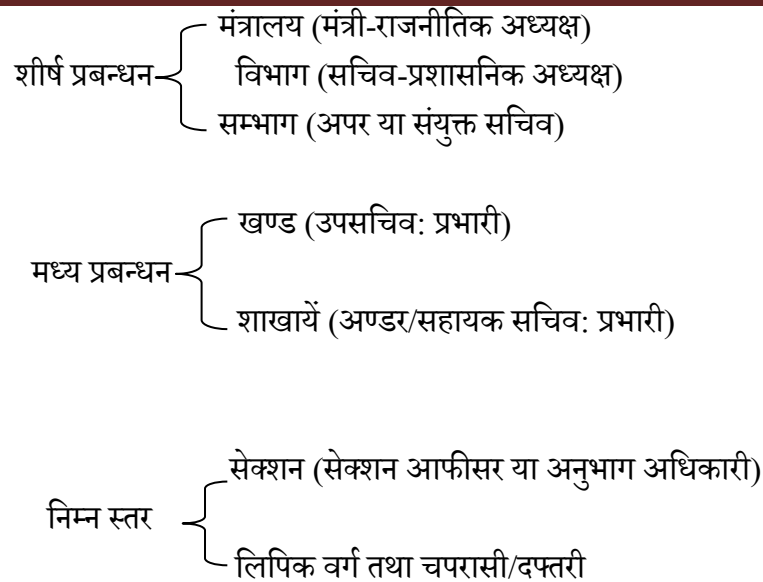
स्टॉफ अभिकरण का काम शासन-प्रशासन को सहारा देना है। परामर्श देना, समन्वय स्थापित करना, समस्याओं का अध्ययन करना, तथ्यों का पता लगाना, शोध करना, योजना बनाना, दूसरे व्यक्तियों या समूहों से सम्पर्क स्थापित करके सूचना एवं ज्ञान अर्जित करना, सूत्रों की सहायता करना तथा उत्पादन पद्धति में सुधार करना यह सब स्टॉफ अभिकरण के दायरे में आते हैं। भारत इस प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है।

15.6 भारत में प्रशासनिक विभाग (Administrative Departments in India)

भारत में प्रशासनिक विभागों का स्वरूप ग्रेट-ब्रिटेन के विभागीय संगठन से काफी मिलता जुलता है। भारत में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर मंत्रालय की स्थापना करता है। और प्रत्येक मंत्री को उसका विभाग सौंपा जाता है। एक मंत्रालय में एक से अधिक विभाग भी हो सकते हैं। केन्द्रीय सरकार में मंत्रालयों की संरचना त्रिस्तरीय है-

1. राजनीतिक शीर्ष पर मंत्री, जिसकी सहायता के एक या एक से अधिक राज्य मंत्री, उपमंत्री या संसदीय सचिव होते हैं,
2. सचिवालय तथा उससे संलग्न कार्यालय का प्रमुख एवं स्थायी सचिव, तथा
3. मंत्रालय के अधीन विभाग या विभागों का कार्यपालक संगठन होता है, जिसका सर्वोच्च अधिकारी महानिदेशक या महानिरीक्षक होता है। यही अधिकारी विभाग का विभागाध्यक्ष होता है।

भारत में प्रत्येक मंत्रालय सम्भागों, सम्भाग शाखाओं तथा सेक्शनों में विभाजित हैं। सम्भाग और शाखा अधिकारियों के अधीन लिपिक वर्ग और अधीनस्थ कर्मचारी कार्य करते हैं। यह संगठनात्मक व्यवस्था इस प्रकार है-



भारत के प्रत्येक मंत्रालय में शीर्ष प्रबन्धन का संचालन अखिल भारतीय सिविल सेवा के वरिष्ठतम अधिकारी द्वारा किया जाता है। मध्य स्तरीय प्रबन्धन केन्द्रीय सचिवालय सेवा और अधीनस्थ तथा संलग्न अधिकारियों के हाथ होती है। सेक्शन आफिसर, उच्च एवं निम्न श्रेणी के लिपिक आदि मंत्रालय सेवा के कार्मिक होते हैं।

विभागीय संगठनात्मक संरचना को समझने के बाद यह समझना होगा कि, क्योंकि संगठनों की रचना का आधार व्यक्ति हैं (मंत्री से लेकर दफ्तरी तक) और इन व्यक्तियों में पारस्परिक सम्बन्ध (Interrelations) हैं, तब इन सम्बन्धों का स्वरूप क्या है? मानवीय व्यवहार की कौन कौन सी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं? उनका समाधान क्या है? अच्छा होगा इन सवालों के उत्तर के लिए प्रशासनिक चिन्तकों के विश्लेषणों, निष्कर्षों तथा सुझावों का पुनः अध्ययन किया जाये। इस सम्बन्ध में विभागों के शीर्ष से पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण जरूरी है।

15.7 राजनीतिज्ञ और लोकसेवक विवाद (Disputes between Politicians and Public Servants)

राजनीतिज्ञ का यहाँ अर्थ है 'मंत्री' जो अपने मंत्रालय का अध्यक्ष है। लोक सेवक का अर्थ है विभाग का सचिव जो प्रशासनिक अध्यक्ष है। लोकतंत्र में यह दोनों प्रशासनिक यान के दो पहिए हैं। मंत्रियों द्वारा निर्मित प्रशासनिक नीतियों के कार्यान्वयन का उत्तर दायित्व लोक सेवकों पर रहता है। लोक सेवक विशिष्ट तकनीक ज्ञान के धनी होते हैं, इसलिए वे मंत्रीगण को नीति निर्माण में नीति का विधिक खाका तैयार करके सहायता करते हैं। इस तरह संसदीय शासन व्यवस्था में (भारत) प्रशासन अविशेषज्ञों (राजनीतिज्ञों) तथा विशेषज्ञों (प्रशासकों) के सहयोग एवं समन्वय पर आधारित है। मंत्रीगण प्रशासनिक अनभिज्ञता के प्रतीक है और लोक सेवक प्रशासनिक ज्ञान की

विशिष्टता का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों में ताल-मेल और समन्वय अपरिहार्य है। लेकिन आश्चर्य यह है कि दोनों में वह असमति और टकराव भी है जिसका वर्णन मैरी पार्कर फॉलेट ने किया है। लेकिन जैसा कि मैरी फॉलेट का मानना है कि यह मतभेद रचनात्मक होते हैं। इन से प्रशासन, शासन तथा उसके उद्देश्यों को लाभ होता है। तब क्या हैं मंत्रियों तथा लोक सेवकों के मध्य सम्बन्ध और क्या हैं उनके मतभेद और इन मतभेदों के कारण तथा परिणाम? इसका विश्लेषण इस प्रकार है-

15.7.1 राजनीतिज्ञों (मंत्रियों) की प्रशासनिक अनभिज्ञता

एक राजनीतिक (मंत्री) की क्या योग्यता (Qualification) होती है और क्या प्रशिक्षण होता है? यह लोकतंत्र में तैय नहीं किया जा सकता। वह प्रशासनिक अनुभवों, कानूनी बारीकियों तथा प्रशासनिक तकनीकों से लगभग अनभिज्ञ होता है। उसे जनता ने चुना है और वह जनता के प्रति उत्तर दायी है। यही उसका दंड है, यही उसका अंह है। मंत्रियों को यथार्थ में प्रधानमंत्री नियुक्त करता है। राजनीतिक दलों में उनकी स्थिति, उनका व्यक्तित्व, उनका राजनीतिक प्रभाव और कुछ सीमा तक उनकी शैक्षिक योग्यता, उनका व्यवहारिक अनुभव और उनका महत्व और प्रभु कृपा (प्रधानमंत्री की) उनको मंत्री की कुर्सी तक पहुँचाती है। मंत्रियों की दूसरी कमजोरी यह है कि वे अस्थायी रूप से अपने पद पर रहते हैं। उनका कार्यकाल अनिश्चित होता है। आज हैं तो कल नहीं हैं, इसलिए वह प्रशासन से अनभिज्ञ रहते हैं। तीसरे, मंत्रीगण राजनीतिक प्रपंच में माहिर होते हैं, प्रशासनिक कला में नहीं। उनका सारा समय राजनीति के दांव-पेंच में कटता है, इसलिए वे प्रशासन में शून्य होते हैं। यही शून्यता उनकी कमजोरी है, लेकिन वे जनता के प्रतिनिधि होते हैं, शासन की रणनीतिकार होते हैं, वे अपने मंत्रालय के मुखिया होते हैं, इसलिए वे मालिक होते हैं, नौकर नहीं। यही भावना उनको अहंकारी बनाती है।

15.7.2 लोक सेवकों की प्रशासनिक विशिष्टता (Administrative Specialty of Civil Servants)

मंत्रीगण के विपरीत लोक सेवक अपने विषय या क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं। वे चुनकर आते हैं प्रभु कृपा से नहीं अपनी योग्यता के आधार पर। उनको प्रशासन का ज्ञान होता है, अनुभव होता है और प्रशासन के सकारात्मक और नकारात्मक पहलू से परिचित होते हैं। वे औपचारिकता में दक्ष होते हैं, प्रशासन की तकनीकी और कानूनी बारीकियों को जानते हैं। इसलिए वे न केवल राजनीतिक नीतियों का कार्यान्वयन करते हैं, बल्कि नीति निर्माण में

मंत्रियों को परामर्श भी देते हैं। संवैधानिक और कानूनी सीमाओं का उनको ज्ञान होता है इसलिए नीति निर्माण तथा उसके कार्यान्वयन में उनका परामर्श अर्थपूर्ण होता है।

वे निवारचित नहीं चयनित होते हैं। वे स्थाई होते हैं। उन्हें अपदस्थ करना बड़ा कठिन होता है। उनका एक दर्जा है। उनकी एक मानसिकता है। इसलिए उनको नौकरशाह(Bureaucrats) कहा गया है, अर्थात् “हैं तो वे नौकर लेकिन दिमाग शाहों जैसा है।” उनकी यही हैसियत उनका दंभ है, जो उनको अहंकारी बनाती है।

15.8 लोक सेवकों तथा मंत्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध (Relations between Civil Servants and Ministers)

जहाँ लोक सेवकों तथा मंत्रियों के पारस्परिक सम्बन्धों का सवाल है तो यह असहमति और मतभेद के सम्बन्ध हैं। यह वास्तविकता है कि एक ओर अनभिज्ञता है (प्रशासनिक) तथा दूसरी ओर विशिष्टता है तब ऐसी स्थिति में असहमति स्वाभाविक है। इस मतभेद का एक बड़ा कारण अहं (Ego) का टकराव है। मंत्री निवारचित है, मंत्रालय का प्रभारी है, नीति निर्माता है तथा सीधे जनता के प्रति उत्तर दायी है। यह स्थिति अहं का निर्माण करती है। दूसरी ओर लोक सेवक चयनित है, शिक्षित है, प्रशिक्षित है, अनुभवी है और विशेषज्ञ है। वह स्थायी है, सुरक्षित है और उसकी एक हैसियत (Status) है। यह स्थिति उसमें अहंकार को जन्म देती है, इसलिए मंत्री और लोक सेवक का मतभेद वास्तव में ‘अहं’ के टकराव का नतीजा है।

मंत्रीगण तथा लोक सेवकों के मध्य तनावग्रस्त सम्बन्धों की परम्परा भारत को ब्रिटिश प्रशासन से मिली है। इस सम्बन्ध में जो तथ्य उभरे हैं वे इस प्रकार हैं-

- मंत्रीगण (ब्रिटेन में) लोक सेवकों के इशारों पर चलते हैं।
- मंत्रीगण नौकरशाही के हाथ का खिलौना हैं।
- नौकरशाही का (ब्रिटेन में) आधिपत्य स्थापित हो गया है।
- प्रशासन के सूत्र में लोक सेवकों की निर्णायक भूमिका है। इन निष्कर्षों के विपरीत एक दूसरा नजरिया है।
- नौकरशाही के आधिपत्य की बात करना भ्रामक है।
- निर्णय निर्माण की वास्तविक शक्ति मंत्रियों के हाथ में ही होती है।

- मंत्रीगण नीति निर्माण और निर्णय निर्माण की क्षमता रखते हैं।

लास्की का कहना है कि दोनों के सम्बन्ध वस्तुतः उनके व्यक्तित्व पर आधारित होते हैं। यदि मंत्री का व्यक्तित्व प्रभावी है तो लोक सेवकों पर हावी होगा और अगर मंत्री ढीला-ढाला है तो उसे लोक सेवकों के इशारों पर चलना पड़ेगा।

15.8.1 सम्बन्धों की वास्तविकता (Realism of Relationship)

यह सच है कि राजनीतिज्ञों और प्रशासकों (अधिकारियों) में मतभेद हैं, लेकिन जैसा कि मैरी फालेट का कहना है कि “मतभेद न अच्छे होते हैं और न बुरे। वे ‘रचनात्मक’ मतभेद होते हैं जो संगठन के लिए फायदेमंद होते हैं।”

इस कथन के परिप्रेक्ष में राजनीतिज्ञों तथा लोक सेवकों के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण करना अनिवार्य है।

यह मान्यता लगभग पुरानी हो चुकी है कि मंत्रियों की न कोई योग्यता होती है, न कोई अनुभव और न कोई प्रभाव। विशेष रूप से केन्द्रीय सरकार में यह सब मिथ्या है। अधिकांशतः केन्द्र के मंत्री बहुत शिक्षित, योग्य, अनुभवी और प्रभावशाली व्यक्तित्व के होते हैं। वे अपने मंत्रालय के विषय में माहिर होते हैं। राजनीतिक दृष्टि से वह मजबूत और प्रभावशाली होते हैं। वे दृढ़ और निश्चयात्मक होते हैं। वे लोक सेवकों को स्वयं पर हावी नहीं होने देते। लोक सेवक उनकी इन योग्यताओं को समझकर और उनके मिजाज को दृष्टि में रखकर अपने आचरण को ढालता है। उसे डर रहता है कि यदि उसने मंत्री के रुख के खिलाफ कोई कदम उठाया तो उसका उसके तत्कालीन पद या स्थान पर बना रहना या उसकी प्रोन्नति होना कठिन होगा।

ऐसी स्थिति में, जैसा मार्क्स ने कहा था, “नौकरशाह परजीवी है। वह पूरी तरह मंत्रीगण पर निर्भर है, अपने अस्तित्व के लिए नहीं बल्कि अपनी हैसियत के लिए। हाँ, इतना जरूर है कि राज्य सरकारों के मंत्रियों पर अनभिज्ञता का आरोप लगाया जा सकता है, जिसका लाभ लोक सेवक उठाते हैं। 30 मई 2017 को लखनऊ हाईकोर्ट की यह टिप्पणी कि “सरकार के बचकाने और दब्बू रवैये से कुंठित हो रही है एस0टी0एफ।” पेट्रोल चोरी कर रहे पंप मालिकों के खिलाफ राज्य सरकार के रुख पर हाईकोर्ट की लखनऊ पीठ ने यह बेहद तल्ख टिप्पणियाँ की। इन टिप्पणियों से स्पष्ट होता है कि प्रदेश के मंत्रियों की हैसियत क्या है। निश्चित रूप से इस दब्बूपन का लाभ लोक सेवक उठायेंगे। लास्की ने मंत्रियों और सेवकों के सम्बन्ध को वस्तुतः उनके व्यक्तित्व पर

आधारित माना है। उसके अनुसार मंत्री तीन प्रकार के होते हैं- शक्तिशाली व्यक्तित्व वाले, लोकप्रिय व्यक्तित्व वाले, तथा भाग्य के सहारे चलने वाले।

1. प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व वाले मंत्री लगभग सभी प्रशासनिक समस्याओं को अपने सामान्य विवेक से समझ लेते हैं और उनका समाधान भी स्वयं तलाश लेते हैं। स्थिति के अनुसार निर्णय लेकर लोक सेवकों को निर्णय के कार्यान्वयन का आदेश देते हैं। वे लोक सेवकों पर नजर रखते हैं, उन्हें निर्देश देते हैं और लोक सेवक इसलिए भयभीत रहते हैं कि कहीं कोई गलती न हो जाये। जवाहर लाल नेहरू, सरदार पटेल, गोविन्द बल्लभ पन्त, श्रीमती इन्द्रा गांधी ऐसे ही व्यक्तित्व के राजनेता थे। ब्रिटेन में यह रुतबा विंस्टन चर्चिल और मार्गेट थैचर का था। गोविन्द बल्लभ की विशेषता यह थी कि उनकी उपस्थिति मात्र से कर्मचारियों की भावनाएं बदल जाती थीं।
2. कुछ मंत्री राजनीतिक दृष्टि से मजबूत और लोकप्रिय होते हैं। वे अपनी लोकप्रियता के बल लोक सेवकों पर हावी होते हैं। उनका तर्क होता कि उन्होंने या उनके दल ने जो वायदे किये भले ही वे तर्कसंगत न हों, उनको निभाना है। लोकसेवक से वह यह कह देते हैं कि उनके “घोषणा पत्र का अध्ययन करो और उसका अमल करो।” लोक सेवक उनकी तर्कहीन बातों पर भी अमल करते हैं, विशेष रूप से राज्यों में।
3. कुछ मंत्री अक्खड़, बदमिजाज, अभद्र और अपमानित भाषा का प्रयोग करने वाले (Abusive) तथा अप्रबुद्ध और असभ्य(Uncivilized) होते हैं। यह बेलगाम होते हैं। इन से भी लोक सेवक डरते हैं। इनके पैर छूते हैं, जूते पहनाते हैं, इनके जूतों के तसमे बाँधते हैं। इनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। उनकी योग्यता, दक्षता, अनुभव, तकनीकी ज्ञान तथा अहंकार दबंग मंत्रियों के सामने अर्थहीन हो जाता है।
4. लेकिन कुछ मंत्री न तो प्रतिभाशाली होते हैं, न लोकप्रिय और न अभद्र और दबंग। ये विनम्र व्यक्तित्व वाले, अनभिज्ञ, भाग्य भरोसे चलने वाले होते हैं। लोक सेवक बस इन्हीं की गर्दन दबोच लेते हैं। यह ऐसे मंत्रियों को ‘डिकटेट’ कराते हैं और मंत्री खामोशी से उस पर अमल करते हैं।

15.9 सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ विवाद (Disputes of Generalist v/s specialist)

भारत में प्रशासन व्यवस्था में सामान्यज्ञ (Generalist) तथा विशेषज्ञ (Specialist) के बीच विवाद की समस्या एक सत्य है, जो उसे ब्रिटेन से विरासत में मिली है। इस विवाद के कारण डॉ० शाह ने आत्म हत्या की थी। इस

विवाद के दो कारण हैं- नीति निर्माण एवं निर्णय निर्माण भूमिका के मध्य संघर्ष और वेतन, पदस्थिति एवं प्रतिष्ठा में अन्तर।

सामान्यज्ञ (नौकरशाह), नीति निर्माण एवं निर्णय निर्माण का काम करते हैं, लेकिन जिस आधार पर करते हैं (तथ्यों और आकड़ों के) वह आधार विशेषज्ञ (90 प्रतिशत) मोहय्या कराते हैं। इसलिए विशेषज्ञों का तर्क है कि जब नीति निर्माण में 90 प्रतिशत काम वे करते हैं तो 10 प्रतिशत भी उन्हीं को करना चाहिए। विवाद यह है कि निर्माण का काम किसे सौंपा जाये?

दूसरा विवाद वेतन, पदस्थिति एवं प्रतिष्ठा से सम्बन्धित है। वेतन विसंगतिया तथा सेवा दशायें सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों में मतभेद पैदा करती हैं। शिकायत विशेषज्ञों की तरफ से है। उनका तर्क है कि उनके कार्य आई0ए0एस0 अधिकारियों के कार्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं विषम हैं, लेकिन वेतन आई0ए0एस0 को अधिक दिया जाता है। भत्तों और पदोन्नति में भी अन्याय होता है। दोनों का काम एक, जिम्मेदारी समान फिर भी आई0ए0एस0 की प्रतिष्ठा अधिक, यह अन्याय है। लेकिन सामान्यज्ञों के अपने तर्क है-

- हम नीति-निर्माण तथा निर्णय-निर्माण का कार्य करते हैं जिसका सीधा सम्बन्ध जनता से है। उत्तर दायित्व हमारा है, इसलिए हमें विभागों का प्रभारी होना चाहिए।
- हम प्रशासन की बारीकियों-नियमों, उपनियमों, उनके कार्यान्वयन और परिणामों की जानकारी रखते हैं।
- हम प्रशिक्षित हैं, दक्ष हैं, योग्य हैं, इसलिए हम क्रियान्वयन में अहम भूमिका निभाते हैं।
- हम विशेषज्ञों के कार्यों का विश्लेषण करके, उचित-अनुचित का ध्यान रखकर तथ्यों को मंत्रियों तक पहुँचाते हैं।

इन चार बातों को ध्यान में रखकर ही पाल एपलबी ने लिखा, “विशेषज्ञता का हर मूल्य संकीर्ण वादी होता है और विशेषज्ञ एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसकी जानकारी किसी भी विषय या समस्या के विशिष्ट पहलू तक ही सीमित होती है। इसलिए सामान्यवादी ही वह सेवक है जो प्रबन्धकीय कला में निपुण होने के कारण नियोजन निर्देशन एवं समन्वय के कार्यों को भली-भाँति सम्पादित कर सकता है।”

विशेषज्ञों के भी अपने तर्क है-

- सामान्यज्ञ मंत्री को जो परामर्श देते हैं वह हमारे द्वारा तैयार किये गये आकड़ों व तथ्यों पर आधारित होते हैं सामान्यज्ञ केवल एक माध्यम का काम करते हैं। वे अच्छाईयों का श्रेय स्वयं लेते हैं लेकिन बुराईयों, कमियों इत्यादि को हमारे सिरपर डाल देते हैं।
- हम तकनीकी कार्यों के माहिर हैं (कृषि, सिंचाई, आर्थिक नियोजन, स्वास्थ्य इंजीनियरिंग आदि) लेकिन श्रेय सामान्यज्ञों को मिलता है।
- विशेषज्ञों का काम सामान्यज्ञों से अधिक जटिल है। सामान्यज्ञ इस काम को नहीं कर सकते लेकिन हम प्रशासन का काम कर सकते हैं।
- हमारी मानसिकता सामान्यज्ञों जैसी नहीं है। यदि हमें सामान्यज्ञों की जगह बिठा दिया जाये तो पूरे संगठन में सहयोग एवं समन्वय अधिक होगा।

सामान्यज्ञों तथा विशेषज्ञों के मध्य विवाद एक सत्य है तथा लोक प्रशासन, शासन तथा जनहित के लिए नुकसानदेय है। सरकार इस विवाद पर काफी गम्भीर है। कई बार इस समस्या को हल करने के लिए संसदीय परामर्शदात्री समितियाँ नियुक्त की गयी जिन्होंने समस्या की गम्भीरता के परिप्रेक्ष में समाधान के अनेक रास्ते सुझाये, लेकिन जैसा कि लिखा जा चुका है समस्या मनोवैज्ञानिक है, इसलिए नौकरशाही के वर्चस्व के कारण यथास्थिति बनी हुई है। फिर भी विवाद की दिशा में जो प्रयास किये गये, वे इस प्रकार हैं-

1. विशेषज्ञ प्रशासन के सभी स्तरों पर, उत्तर दायित्व पूर्ण ढंग से अपना योगदान प्रदान कर सकते हैं (योजना आयोग का पंचवर्षीय प्रलेख)
2. तकनीकी विभाग का सचिव ऐसा व्यक्ति हो जो प्रशासनिक योग्यता भी रखता हो तथा उसकी तकनीकी पृष्ठभूमि भी हो। (द्वितीय वेतन आयोग, 1959)
3. तकनीकी संस्थानों के विभागों एवं मंत्रालयों के प्रशासन अध्यक्षों की पृष्ठभूमि तकनीकी भी हो और प्रशासनिक भी ऐसे ही अधिकारियों की भर्ती हो (संसदीय प्राक्कलन समिति, 1969)।

4. इंजीनियरिंग सेवा को सौंपी गई महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए उन्हें न तो तद्विरुद्ध परिलब्धियों से वंचित रखा जाये और न ही सरकार द्वारा उनकी सेवाओं के मूल्यांकन में कोई कमी रखे। (तृतीय वेतन आयोग 1973)
5. तकनीकी विभागध्यक्षों को सचिवालय में नीति-निर्माण में शामिल किया जाये। (प्रशासनिक सुधार समिति, 1962)
6. लोक सेवाओं के वेतन क्रमों में समान योग्यता एवं उत्तर दायित्व वाले कर्मचारियों को एक ही वेतन क्रम में रखा जाये (प्रशासनिक सुधार आयोग, 1966)
7. समान वेतन क्रम, भर्ती प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से (प्रथम श्रेणी), प्राविधिक पदों के वरिष्ठ स्तर पर विश्वविद्यालय, औद्योगिक तथा व्यवसायिक स्तर के अनुभवी लोगों की नियुक्ति, डाक्टरों एवं इंजीनियरों को गैर तकनीकी सेवाओं में परीक्षा में बैठने का अधिकार, तथा केन्द्र में सचिवालय तथा राज्य में कृषि एवं शिक्षा विभाग के लिए भर्ती राज्य कर्मियों से, यह अन्य सिफारिशें हैं जो समय-समय पर की गईं।
8. चौथे, पांचवे, छठे और सातवें वेतन आयोगों ने (1986 से लेकर 2016 तक) अपनी रिपोर्ट में प्रशासनिक अधिकारियों की श्रेष्ठता को मान्यता प्रदान की है। इन रिपोर्टों का सार है, “विशेषज्ञों एवं पेशेवर कर्मचारियों को प्रशासनिक अधिकारियों के मुकाबले वरीयता नहीं दी जा सकती। वे प्रशासन की दूसरी पंक्ति है।” इस पक्षपात पूर्ण रवैय्ये का कारण है नौकरशाही का वर्चस्व और राजनीतिज्ञों पर उनका प्रभाव। इसलिए विवाद घटा नहीं बढ़ा है।

15.10 सामान्य कर्मचारी सेवा विवाद (General Employees Service Disputes)

अब तक स्वामी-कर्मों के जो विवाद सामने आये हैं वे संगठन के (सरकारी) शीर्ष प्रबन्धन से सम्बन्धित थे। अब जिस विवाद की चर्चा की जायेगी, उसका सम्बन्ध मध्य प्रबन्धन तथा निम्न स्तर से है। यहाँ मतभेद मनोवैज्ञानिक भी हैं और भौतिक भी। यहाँ टकराव ‘अहम’ का नहीं है, न व्यक्तित्व का है। यहाँ टकराव है इच्छाओं का, मानसिकता का तथा आत्म-सम्मान का। यह मनोवैज्ञानिक विवाद है। वेतन, काम के घण्टें, सेवा का स्थायित्व तथा पदोन्नति के अवसर जैसे मुद्दे भौतिक मतभेद की वजह हैं। प्रशासनिक चिन्तकों की दृष्टि में स्वामी-कर्मों विवाद का सार है-

1. स्वामी द्वारा मातहत को आदेश देने के निम्न स्तरीय तरीके।
2. स्वामी द्वारा उत्पादन वृद्धि पर जोर लेकिन प्रोत्साहन का अभाव, दोनों में एक दूसरे को समझे का अभाव।
3. कर्मचारियों में उद्देश्य पूर्ति के लिए “मानव समूह” की भावना और इसके माध्यम से संगठित होना।
4. थकान, नीरसता, मनोबल, कार्य माहौल और इन सब बातों का कर्मचारियों/मजदूरों पर प्रभाव।
5. समूह व्यवहार और इसका प्रबन्धन पर प्रभाव/अभौतिक परिवर्तनों का महत्व (हार्थान अनुभवों-प्रयोग के अध्ययन से ज्ञात हुआ)
6. अनौपचारिक संगठनों और कर्मचारियों के मध्य सम्पर्क।

संक्षेप में स्वामी-कर्मचारियों में मतभेद बढ़ाने वाले मुख्य कारक हैं- अधिक वेतन की मांग, संगठित होने की प्रवृत्ति, महत्वकाक्षाएं, लोक सेवकों का कर्मियों के प्रति आचरण, व्यक्तिगत हित और स्वाभिमान और संतोष के तकाजे।

नियोजक तथा कर्मचारियों के मतभेद प्रायः संघर्ष और टकराव का रूप ले लेते हैं, जिसकी वजह से संगठन की गतिशीलता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कार्य रूकता है, उत्पादन गिरता है और देश को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है।

15.11 कर्मचारी संगठन: लक्ष्य (Purpose of Employees' Organization)

कार्ल मार्क्स ने सबसे पहले कर्मचारियों को संगठित होने की सलाह दी थी। उसका तर्क था कि यदि सभी कर्मचारी मिलकर एक संघ के रूप में संगठित हो जायें तो नियोजक उनकी मांगों को ठुकराने तथा उनके हितों की अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकते। “कर्मचारियों को पूँजीपति नियोजकों को चुनौती देना होगी और उन्हें अपनी मांगों को पूरा करने के लिए बाध्य करना होगा।” मार्क्स का यह वह मूल मंत्र है जिसे पूरी दुनिया के मजदूरों ने अपने हक की लड़ाई के लिए हथियार बनाया है। बाल्टर शार्प के अनुसार “हर जगह सरकार कर्मचारियों का यह अनुभव रहा है कि उसके भौतिक स्तर की उन्नति के लिए प्रारम्भिक शक्ति के रूप में संगठित दबाव होना चाहिए।” विगोर्स तथा मियर्स भी यह मानते हैं कि कर्मचारी संघ का सदस्य इसलिए बनना चाहता है, क्योंकि वह समझता है कि उसकी महत्वाकाक्षाओं को अकेले पूरा नहीं किया जा सकता। संगठन के मूल में प्रायः अधिक वेतन की इच्छा होती है।

कर्मचारियों के, चाहे वह लोक सेवक हो या निम्न स्तरीय कर्मचारी, दो रूप हैं- संगठन के सदस्य के रूप में तथा एक नागरिक के रूप में। संगठन के सदस्य के रूप में वह किसी राजनीतिक दल को न बना सकता है और न किसी राजनीतिक दल का सदस्य रह सकता है। यह प्रशासन में अनुशासन के लिए जरूरी है। लेकिन कर्मचारी या लोक सेवक एक नागरिक भी है। उसको स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार है। प्रशासनिक प्रतिबन्ध उसकी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति के लिए खतरा है। लोकतांत्रिक देशों में कर्मचारियों की इस मौलिक अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। इसलिए उन्हें यह अधिकार दिया गया है कि व्यवसायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि लक्ष्यों की पूर्ति के लिए वे संघ तथा संस्थायें स्थापित कर सकते हैं। ऐसे किसी भी संघ को सरकारी मान्यता प्राप्त होना जरूरी है। भारत में प्रायः सभी सरकारी विभागों एवं निगमों के कर्मचारियों को संघ बनाने का अधिकार दिया गया है। इस स्वीकृति का आधार उपयोगितावादी तथा व्यवहारवादी है।

15.11.1 कर्मचारी संघ के उद्देश्य (Aims of Employee's Union)

कर्मचारी संघ अपने सदस्यों के जिन उद्देश्यों को पूरा करते हैं वे इस प्रकार हैं-

1. लोक सेवक अथवा कर्मचारी संघों के माध्यम से शीर्ष प्रबन्धन तक अपने दृष्टिकोण या समस्याओं को पहुँचाते हैं।
2. संघ लोक सेवकों या कर्मचारियों का वास्तव में व्यक्तित्व है इस सच्चाई को शीर्ष तक पहुँचाना जरूरी है ताकि असहमति की नौबत न आये और समन्वय और सहयोग बना रहे।
3. मत या दृष्टिकोण (चाहे कर्मचारी हों या अधिकारी) को व्यक्त करने और उनको जानने का माध्यम कर्मचारी संघ या संस्था ही है।
4. एक कर्मचारी के जीवन के अनेक पहलू हैं- सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक। संघ ऐसी सभी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अवसर और माहौल प्रदान करता है।
5. कर्मचारी मात्र अपने पद के दायित्वों को पूरा करने से संतुष्ट नहीं होते। वे अपने व्यक्तित्व के विकास और स्वाभिमान की रक्षा करना भी चाहते हैं, जो उन्हें संघ के माध्यम से प्राप्त होता है।
6. संघ कर्मचारियों में एकता, सहयोग, समरसता तथा सन्तोष की भावना जागृत करता है।
7. संघों के माध्यम से लोक प्रशासन में गुणात्मक सुधार होता है।

15.12 भारत में कर्मचारी संघ (Employee's Organization in India)

सब से पहले 1897 में भारत म्यामांर के रेल कर्मचारियों ने एक संघ की स्थापना की थी। लेकिन भारत में ऐसे संघों का विधिवत इतिहास 1922 से आरम्भ होता है जब रेल और डाक विभाग कर्मियों ने अपने संघों की स्थापना की। 1926 में व्यापार संघ कानून पारित हुआ जिसके बाद व्यापार संघों को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई। 1946 से कर्मचारी संघ की संख्या निरन्तर बढ़ती चली गई। अब इन संघों का महत्व इतना बढ़ गया कि भारतीय संविधान की धारा-15 द्वारा कर्मचारी संघों का कानूनी स्तर निर्धारित कर दिया गया। अब संवैधानिक रूप से नागरिकों को बोलने, अभिव्यक्ति, संस्था बनाने आदि का मौलिक अधिकार मिल गया। लेकिन यह भी व्यवस्था की गई कि राज्य सुरक्षा के हित में राज्य इन अधिकारों के प्रयोग पर बुद्धिसंगत प्रतिबन्ध लगा सकता है।

स्वतन्त्रता के बाद संघ और राज्य स्तर पर बड़ी संख्या में कर्मचारी संघ और महासंघ अस्तित्व में आ गये हैं। वर्तमान में केन्द्रीय सरकार के लोक सेवकों के महत्वपूर्ण संघों में- अखिल भारतीय रेल कर्मचारी संघ, अखिल भारतीय प्रतिरक्षा कर्मचारी संघ, डाक व तार कर्मचारियों का राष्ट्रीय संघ तथा केन्द्रीय सचिवालय तथा सम्बद्ध कार्यालयों के कर्मचारियों के संघ हैं। केन्द्रीय सरकार के लोक सेवक दो मुख्य वर्गों में विभाजित हैं- गैर-औद्योगिक कर्मचारी वर्ग, तथा औद्योगिक कर्मचारी-वर्ग, लेकिन दोनों ही वर्ग के कर्मचारी विशेष रूप से हड़ताल या बन्द आदि के अधिकार के मामले में भारत सरकार के नियमों के अन्तर्गत आते हैं। यह नियम हैं-

1. **गैर-औद्योगिक कर्मचारी-वर्ग के लिए नियम-** इस वर्ग पर केन्द्रीय असैनिक सेवा (आचार) नियम, 1955 के उपबन्ध लागू होते हैं, जो इस प्रकार हैं- कोई भी कर्मचारी न तो हड़ताल करेगा और न किसी प्रदर्शन में शामिल होगा, संघ के लिए शासन की मान्यता जरूरी है, राज्य की नीति के विरुद्ध अभिव्यक्ति का अधिकार नहीं है, कोई भी कर्मचारी या संघ सरकार की अनुमति के बिना चन्दा नहीं लेगा न मांगेगा तथा कोई कर्मचारी या संघ अपने हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक दबाव नहीं डालेगा।
2. **औद्योगिक कर्मचारी-वर्ग के लिए नियम-** औद्योगिक तथा गैर-औद्योगिक रेलवे कर्मचारी-वर्ग के लिए 1955 के उपर्युक्त नियमों के कुछ अन्य उपबन्ध लागू नहीं होते हैं। भारत में कर्मचारी संघों को मान्यता प्रदान करना या न करना सरकार के विवेक पर निर्भर है।

15.13 कर्मचारी संघों की प्रमुख समस्याएँ (Main Problems of Employee's Associations)

बहुत सी ऐसी समस्याएँ हैं जो कर्मचारी संघों के संचालन में बाधा डालती हैं। इन में से कुछ इस प्रकार हैं-

1. अधिकार पर सीमाएँ, पहली समस्या है। जिसका अर्थ है कि कर्मचारियों का संगठित होकर मन-मर्जी का काम करने का अधिकार सीमित है। सेवा में प्रवेश के बाद विशेष स्वामित्व के दायित्व कर्मचारियों पर आ जाते हैं। राज्य पूर्णतः सम्प्रभु है। किसी अन्य संस्था का उसके कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप उसकी सम्प्रभुता के विरुद्ध है। स्टॉल के अनुसार, संगठन की क्रियाओं पर विशेष सीमाएं स्थापित कर दी गई हैं, जो जरूरी हैं।
2. सम्बद्धता का प्रश्न सरकारी कर्मचारियों की एक महत्वपूर्ण समस्या है। भारत में सरकारी कर्मचारियों और कर्मचारी संगठनों की राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध न होने के कारण सम्बद्धता को राज्य की मान्यता नहीं है, किन्तु फिर भी कानूनी सीमाओं से परे वास्तविक व्यवहार में विभिन्न संगठन सत्ताधारी अथवा विरोधी राजनीतिक दलों से सम्बद्ध रहते हैं। सरकार सम्बद्धता को प्रशासन के विरुद्ध मानती है। सरकार पर विरोधी दल का प्रभाव बढ़ सकता है और सरकार के प्रति कर्मचारियों की वफादारी घट सकती है। प्रशासन की एकरूपता को भी नुकसान होगा। लेकिन सरकारी कर्मचारी सरकार के इस नजरिए से सहमत नहीं हैं।
3. “प्रतिनिधित्व” की ऐसी तीसरी समस्या है जो सरकार और कर्मचारी संगठन को दुविधा में डालती है। समस्या यह है कि विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श के लिए किस गुट या संस्था अथवा इकाई को सच्चा प्रतिनिधि माना जाये। स्पेरा का मत है कि, प्रशासन को कर्मचारियों के बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले एक ही अभिकरण से विचार विमर्श करना चाहिए। एक ही समूह सरकार या प्रशासन और कर्मचारियों दोनों के लिए हितकर है। स्टॉल के अनुसार, यह व्यवस्था सरल है। यहाँ समझौतों के ज्यादा अच्छे अवसर हैं।
4. हड़ताल करने का अधिकार कर्मचारियों को मिले या नहीं यह एक गम्भीर प्रश्न है। वास्तविकता यह है कि हड़ताल के सकारात्मक पहलू कम, नकारात्मक अधिक हैं। हड़ताल प्रशासनिक गतिरोध, अव्यवस्था,

आर्थिक हानि और जनता की तकलीफें बढ़ाती है, लेकिन यही वह प्रभावशाली तरीका है जिसके माध्यम से नियोजक विवाद को सुलझाने तथा समझौता करने के लिए तैयार रहते हैं।

15.14 सेवा-विवाद एवं हितले परिषदें (Service Disputes and Whitley Councils)

1916 में ब्रिटिश सरकार ने गैर-सरकारी उद्यमों के श्रमिकों और मालिकों के बीच सम्बन्धों में स्थायी सुधार लाने के लिए तत्कालीन सांसद जे0एच0 हितले की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी ने ऐसी परिषदों के गठन का सुझाव दिया, जिनमें विवादों का निबटारा करने के लिए कर्मचारियों तथा मालिकों दोनों के प्रतिनिधि हों। सरकार ने यह मांग 8 अप्रैल, 1919 को स्वीकार कर ली और उसके बाद ऐसी जो परिषदें बनी उनका नाम हितले परिषद पड़ा।

15.14.1 हितले परिषदें- अर्थ एवं उद्देश्य

हितले परिषदों की स्थापना नियुक्ता राज्य एवं लोक सेवकों के बीच अधिक से सहयोग स्थापित करना है, ताकि प्रशासन में कार्य कुशलता लाई जा सके और कर्मचारियों के हितों की रक्षा की जा सके। इन परिषदों के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं-

1. ये कर्मचारियों के विचारों और अनुभवों का उपयोग करने के लिए सर्वोत्तम उपायों की व्यवस्था करती हैं और निरीक्षण में अधिक भाग लेने का अवसर मिलता है।
2. परिषदें कर्मचारियों की सेवा शर्तों का नियमन करने वाले सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करती हैं।
3. यह लोक सेवकों को आगे शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करती है तथा उन्हें उच्चतम शासन और प्रशासन का प्रशिक्षण देती हैं।
4. यह कार्यालय में संगठनात्मक सुधार सुझाती हैं। इस सम्बन्ध में कर्मचारियों के सुझावों पर विचार का अवसर देती हैं।

15.14.2 भारतीय सिविल सेवा में हितले परिषदें

यद्यपि भारत में हितले परिषदें जैसी कोई संस्था नहीं है, लेकिन हितलेवाद को सैद्धान्तिक रूप से पूरा समर्थन मिला है। अनेक निजी उद्योगों में प्रबन्ध कर्मचारियों के सहयोग के लिए हितले स्तर की व्यवस्था की गई है। प्रशासकीय क्षेत्र में हितले परिषदों की आवश्यकता को कर्मचारी-वर्ग की समितियों तथा परिषदों के द्वारा पूरा करने का प्रयास

किया गया है। भारत में ब्रिटिश राष्ट्रीय हितले परिषदों की भांति कोई अखिल भारतीय संगठन नहीं है। 1957 में गृह-कर्मचारी-वर्ग समितियों का नाम बदलकर कर्मचारी-वर्ग परिषदें रख दिया गया। वर्तमान भारत में प्रत्येक मंत्रालय के अन्तर्गत दो कर्मचारी-वर्ग परिषदें हैं- प्रथम, वरिष्ठ कर्मचारी-वर्ग परिषदें और द्वितीय, कनिष्ठ कर्मचारी-वर्ग परिषदें। वरिष्ठ कर्मचारी-वर्ग परिषदें द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों के लिए होती हैं। इनमें सरकार द्वारा मनोनीति व्यक्ति होते हैं। सरकार प्रतिनिधित्व तत्सम्बन्धी मंत्रालय द्वारा उस विभाग के अधिकारियों में से नामजद किया जाता है। कनिष्ठ कर्मचारी-वर्ग परिषदें चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों से सम्बन्ध रखती हैं। इन परिषदों के तीन काम हैं-

1. कार्य के स्तर को सुधारने के लिए दिये गये सुझावों पर विचार करना।
2. कर्मचारी-वर्ग के सदस्यों को कोई ऐसा साधन प्रदान करना, जिसके द्वारा वे उन विषयों पर अपने दृष्टिकोण से सरकार को अवगत करा सकें, जो उनकी सेवा शर्तों पर प्रभाव डालते हैं,
3. कर्मचारी-वर्ग और अधिकारियों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क के साधन प्रस्तुत करना ताकि उनके बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास हो सके।

यदि इन परिषदों के काम काज का मूल्यांकन किया जाये तो पता लगेगा कि असफलता अधिक है, सफलता कम।

15.15 मूल्यांकन (Evaluation)

स्वामी-कर्मचारी के सम्बन्धों का वृहद स्तर पर अध्ययन, विशेष रूप से भारतीय प्रशासन के संदर्भ में, यह सिद्ध करता है कि प्रशासनिक संगठन के प्रत्येक स्तर पर शीर्ष से लेकर निम्न स्तर तक असहयोग, मतभेद और टकराव का एक सिलसिला चला हुआ है। यह विवाद मंत्रियों तथा लोक सेवकों के मध्य है, सामान्यज्ञों तथा विशेषज्ञों के मध्य है नियोजकों तथा कर्मचारियों के मध्य है और मालिकों और मजदूरों के मध्य हैं। इस इकाई के अध्ययन में संगठन में सम्बन्धों के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को समझने का प्रयास किया गया है लेकिन हैरत की बात यह है कि राजनीतिज्ञों से लेकर प्रशासकों ने भारत में कभी भी सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक और व्यवहारवादी अध्ययन नहीं किया, इसलिए सम्बन्धों में असहमति और टकराव की स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है।

अगर राज्यों में विभिन्न स्तर के विवादों का विश्लेषण किया जाये तो पता लगेगा कि स्थिति बहुत गम्भीर है। आज के भारत में प्रदेशों की सरकारों के मंत्री अपराधीकरण की राजनीति से ग्रस्त हैं। या तो वे स्वयं दबंग हैं या

उनको दबंगों या बाहुबलियों का सहयोग मिला हुआ है जिसकी वजह से वे लोक सेवकों को अपनी उंगली पर नचाते हैं। लोक सेवकों की निष्ठा राजनीतिक बदलाव के साथ बदलती रहती है। कल वे धर्म-निरपेक्ष थे, आज वे समाजवादी हैं, भविष्य में वे धर्मवादी बन सकते हैं। जो राजनीतिक चोले नहीं बदलते उनका किसी बुरे स्थान पर या किसी गौड़ पद पर स्थानान्तरण होना अपरिहार्य है। आंकड़ों से पता लगेगा कि सरकार बदलने के बाद कितनी बड़ी संख्या में लोक सेवकों के ट्रांसफर होते हैं। स्वाभाविक है कि इस नीति से असंतोष बढ़ेगा, मतभेद बढ़ेंगे और टकराव होगा। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था से यह सिद्ध होता है कि मंत्रियों का प्रशासन पर वर्चस्व कायम है और स्वाभिमान को संघर्ष में लोक सेवक प्रायः हारते हुए नजर आते हैं। यह स्थिति पुलिस विभाग में और अधिक है। मंत्री और विशेष रूप से लोकप्रिय मुख्य मंत्री बड़े अधिकारियों को प्रताड़ित कर सकते हैं, निम्न स्तरीय काम करवा सकते हैं और ज्यादा गुस्सा आया तो उनको निलम्बित कर सकते हैं। केन्द्र में यह स्थिति नहीं है। वहां राजनीतिज्ञों एवं लोक प्रशासकों में पारस्परिक समझदारी और समन्वय है। निष्ठायें भी समान रहती हैं।

जहाँ तक सामान्यज्ञों और विशेषज्ञों के सम्बन्धों का सवाल है आज भी पड़ला लोक प्रशासकों या सामान्यज्ञों का भारी है। वेतन आयोगों के सदस्यों की मानसिकता नौकरशाही परक है, इसलिए सारे फैसले सामान्यज्ञों के हक में होते हैं। नतीजा यह है कि सामान्यज्ञों तथा विशेषज्ञों के मतभेद और गहरे हुए हैं और यही कारण है कि नीति-निर्माण और निर्णय-निर्माण में झोल रहने के कारण जनहित उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती।

मध्य और निम्न स्तर पर स्थिति यह है कि लगभग सभी कर्मचारी संघ राजनीतिक स्वरूप ले चुके हैं। वे किसी न किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध हैं। इसका नतीजा यह है कि सरकार या प्रशासन राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कर्मचारी संघों से मदद लेता है और बदले में उनकी मांगों के आगे झुकता है। संघों के राजनीतिकरण से स्वयं संघों के मध्य टकराव बढ़ता है। जिस के कारण संघ कमजोर हुए हैं और सौदे बाजी में अक्सर पीछे हटे हैं। इस राजनीतिकरण का प्रशासन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

15.16 सारांश

स्वामी-कर्मचारी विवाद एक सच्चाई है। इस सच्चाई के अनेक पहलू हैं जिनका सार यह है-

1. नियोजकों और कर्मचारियों के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे हैं यह किसी भी संगठन की आन्तरिक विशेषता है।
2. यहाँ हमें संगठन को समझना होगा तथा संगठन के मनोविज्ञान को समझना होगा।

3. मैरी पार्कर फॉलेट ने संगठन में असहमति को एक स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हुए 'रचनात्मक असहमति' (Constructive Conflict) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके इर्द-गिर्द आज स्वामी-कर्मि के सम्बन्ध घूमते हैं। उसने वर्चस्व, समझौता तथा एकीकरण का विश्लेषण प्रस्तुत किया।
4. अन्य यूरोपीय तथा अमरीकी प्रशासनिक चिन्तकों ने भी स्वामी-कर्मि विवाद पर मनोवैज्ञानिक और व्यवहारवादी नजरिये से अपने विचार रखे। अधिकांश चिन्तक 'व्यक्तित्व' को विवादों का कारण मानते हैं।
5. भारत में नियोजक-कर्मि के विवाद को भारतीय प्रशासन व्यवस्था के सन्दर्भ में समझना होगा जो पद सोपानीय सिद्धान्त पर टिकी हुई है।
6. भारत स्वामी-कर्मि विवाद के दो स्तर हैं- उच्चतर प्रबन्धन स्तर तथा मध्य प्रबन्धन और निम्न कार्यान्वयन स्तर।
7. उच्चतर स्तर पर मंत्रियों और लोक प्रशासकों तथा सामान्यज्ञों और विशेषज्ञों के मध्य विवाद है। निम्न स्तर और मध्य स्तर पर सीधा स्वामी-कर्मि विवाद है।
8. प्रत्येक स्तर पर विवादों के निबटारों के लिए कर्मचारी संघों तथा ह्मिटले तर्ज पर परिषदों की व्यवस्था है।
9. भारत में प्रत्येक घटनाक्रम का चश्मा 'राजनीति' है, इसलिए यहाँ कर्मचारी का भी राजनीतिकरण हुआ है।
10. चरमराती हुई, प्रशासनिक व्यवस्था का कारण भी राजनीति या संस्थाओं का राजनीतिकरण है। इसलिए भारत में स्वामी-कर्मि सम्बन्ध तर्क संगत होंगे, यह कहना मुश्किल है।

अभ्यास प्रश्न-

1. 'रचनात्मक असहमति' सिद्धान्त किसका है?
2. भारतीय प्रशासकीय संगठन में शीर्ष पर कौन है?
3. नीति निर्माण तथा निर्णय निर्माण का मुखिया कौन है?
4. किस देश से ह्मिटले परिषदों का सम्बन्ध है?
5. मंत्रालय के कितने स्तर हैं?

15.17 शब्दावली

4 Ps- Purpose (उद्देश्य), Process (प्रक्रिया), People (लोग) तथा Place (क्षेत्र)।

Line Agency- सूत्र अभिकरण/सैनिक शब्द है जिसका अर्थ है- आगे बढ़कर लड़ने वाली सेना, यहाँ अर्थ है- सामान्यज्ञ प्रशासक।

Staff Agency- स्टॉफ का अर्थ छड़ी। सैनिक शब्द है, जिसका अर्थ है- सेना को मदद करने वाली यूनिट। यहाँ अर्थ है- विशेषज्ञ।

Soldiering- अपनी क्षमता से कम काम करना।

15.18 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मैरी पार्कर फॉलेट, 2. प्रधानमंत्री, 3. मंत्रीगण, 4. ब्रिटेन, 5. तीन

15.19 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Henri Fayol: General Principles of Administration, 1908
2. Mary Parker Follett: Dynamic Administration, 1924.
3. Chester J. Barnard : Organization and Management, 1945
4. Abraham A. Maslow : The Theory of Human Motivation, 1943

15.20 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी और अवस्थी, भारतीय लोक प्रशासन, नई दिल्ली।
2. त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी, तुलनात्मक लोक प्रशासन, जयपुर।
3. प्रसाद, सत्यनारायण, प्रशासनिक चिन्तक, नई दिल्ली।
4. अवस्थी एण्ड महेश्वरी, लोक प्रशासन के सिद्धान्त, आगरा।

15.21 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नियोजक-कर्मचारी के सम्बन्धों पर मैरी फॉलेट का सिद्धान्त क्या है?

-
2. नियोजक-कर्मचारी सम्बन्धों के बारे में व्यवहारवादी दृष्टिकोण क्या हैं?
 3. भारतीय प्रशासन में मंत्रालय की संरचना कैसी हैं?
 4. मंत्री-लोक प्रशासक विवाद क्या है?
 5. सामान्यज्ञ-विशेषज्ञ विवाद क्या हैं?
 6. कर्मचारी संघों पर एक लेख लिखिए।